विषय-सूची

हिन्दी गीतिकाव्य

हिन्दी गीतिकाव्य

—— :※: ——

कविता जीवन की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति है। उससे हमें जीवन का जितना स्पष्ट रूप मिलता है, उतना कला के किसी अन्य साधन से नहीं। चित्रकला केवल भावनाओं को रेखाओं में बाँध कर एक बार ही में उसका प्रदर्शन कर देती है। चित्र चाहे कितना ही कलापूर्ण हो, पर उससे जीवन के अंगों की क्रमशः अभिव्यक्ति कभी नहीं हो सकती। चित्र एक परिमित क्षेत्र में अपनी रेखाओं की दिशा से किसी भाव को भले ही जगा दे, पर उस भाव में स्पन्दन नहीं ला सकता। यह स्पन्दन केवल कविता के द्वारा ही हो सकता है। उस स्पन्दन का कारण कल्पना में गुथे हुए भाव की प्रबल उत्तेजना है। यही भावना जीवन के विविध अंगों को एक वेगवान प्रवाह में बहा कर उसे हमारी दृष्टि के सामने बड़े मनोरम रूप में लाती है।

कविता में कल्पना का विस्तार होना आवश्यक है। उसमें हमें जीवन की अनेकरूपता का बड़ा सुन्दर चित्र मिलता है। प्रथम जीवन किसी सुकुमारी का है; दूसरा कली का और तीसरा किसी निर्झर का। इन तीनों का जीवन पारस्परिक दृष्टिकोण से

भिन्न है, पर तीनों में जीवन का क्रम है और यही क्रम जीवन का सौन्दर्य और उसकी अनेकरूपता है। कल्पना का यही संमिश्रण संसार के नीरस से नीरस पदार्थ में सौन्दर्य का आविर्भाव कर देता है।

"मेरे मकान के पास एक टूटी झोंपड़ी है। उसके सभी भाग नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। न तो उसमें सौन्दर्य है और न हृदय लुभाने वाली कोई बात ही। यह महाकुरूप है और उसमें काँटेदार पौधे निकल आये हैं, पर जब चाँदनी खिलती है तो झोंपड़ी मे भी सौन्दर्य की एक उज्ज्वल धारा आ गिरती है। उसका टूटा हुआ द्वार संगमरमर का आधा टूटा हुआ टुकड़ा मालूम होता है। उसके भग्न भाग एक दैवी छटा से बड़े भले जान पड़ते है।" यही मैं कविता के विषय में कह सकता हूँ। कोई चीज़ सूखी है—नीरस है, पर जहाँ उस पर कवि की काव्य-किरण पड़ी, उसी समय उसमे उज्ज्वलता और सौन्दर्य का आभास मिलता है। उसमें छटा की निर्झरिणी का कल्लोल होता है और कवि की आँखों का भाव हमारी आँखों में झूलने लगता है। कवि के फूल माली के फूलों से अधिक सुगन्धित होते है। उसका गुलाब माली के गुलाबों से अधिक सुन्दर है। कवि का माली अलफ्रेड पार्क के मालियों से कहीं चतुर और सौन्दर्योपासक है। कविता के पंखों की हवा पाकर संसार की वस्तुएँ आकाश में गुब्बारे की भाँति उड़ने लगती हैं। फिर वे लौकिक न होकर अलौकिक हो जाती है। संसार का हृदय कविता की शक्ति पाकर दूने वेग से धड़कने लगता है।

कविता को एक परिभाषा के पाश में न बाँधकर केवल इतना ही कह सकते हैं कि कविता की विवेचना उतनी ही कठिन और दुरूह है, जितनी कि जीवन या प्रेम की ; किन्तु जिस प्रकार हम यह जानते हैं कि कौन सी वस्तुएँ जीवित या प्रेममयी हैं, उसी प्रकार हम यह भी जानते हैं कि कौन कौन वस्तुएँ कविता की सामग्रियाँ हैं। कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना तीक्ष्ण है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जायँ।*

इस प्रकार कविता का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उतना विस्तृत जितना कि जीवन का। इसीलिये जीवन के विभाग के अनुसार ही कविता के भी दो विभाग हो सकते हैं। एक तो अन्तर्जगत और दूसरा बहिर्जगत। प्रथम विभाग में कविता केवल व्यक्तिगत विचारों से सम्बन्ध रखती है। मनुष्य की भावनाएँ और व्यक्तिगत आकांक्षाएँ ही घनीभूत होकर कविता के रूप में निकल पड़ती हैं। उस समय मनुष्य को बाह्य संसार से कुछ भी मतलब नहीं रहता। वह केवल अपने अनुभव और ज्ञान के सहारे अपनी भावनाओं का प्रकाशन करता है। उसे संसार में कोई अन्य व्यक्ति अथवा पदार्थ दिखलाई नही पड़ता। उसके सामने केवल दो ही वस्तुएँ रहती हैं। एक उसका हृदय और दूसरी उसकी आराध्य वस्तु। किसी तीसरी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। मीराँ के सामने

---

* साहित्य समालोचना।

'नन्दलाल' के सिवाय और कौन था, जिनसे उसने अपने 'नैनों' में बसने की प्रार्थना की थी। एक ओर उसके सामने 'जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई' का रूप था और दूसरी ओर अपनी 'लगन' थी, जिसके पीछे 'होनी हो सो होई' का निर्भय वातावरण था। यही मीराँ का अन्तर्जगत था और इस अन्तर्जगत से सम्बन्ध रखने वाली कविता व्यक्तिगत भावना ही से सम्बद्ध थी। हम इसी को गीतिकाव्य कहते हैं।

कविता जब वहिर्जगत क्षेत्र से सम्बन्ध रखती है तो कवि अपनी कविता को व्यक्तिगत भावनाओं ही में केंद्रीभूत नहीं रखता। वह अपनी भावनाओं से बाहर निकल कर विस्तृत संसार में घूमता है। संसार के सुख दुख देखता है, लोगों की परिस्थितियों पर विचार करता है और उनके अनुभवों का उपयोग करता है। इसीलिये ऐसे स्थल पर कवि केवल अपने आराध्य और अपने हृदय पर ही दृष्टि नहीं रखता, वरन् देश, जाति, धर्म, आदि की समस्याओं पर विचार करता है और उनके उचित और अनुचित अंगों का समर्थन और खण्डन करता है। उसका दृष्टिकोण बहुत विस्तृत हो जाता है और वह विश्व भर में अपने ज्ञान की व्यापकता में विश्वास करने लगता है। वह भावों की अनेकरूपता पर सोचता है और ऐसी बातें लिखता है, जिनसे लोगों को उपदेश मिले, लोग अपनी अवस्था के विषय में विचार करें। तुलसीदास का मानस ऐसा ही है। उसमें देश, जाति, समाज पर अनेक पहलुओं से विचार किया है, जिससे कवि का क्षेत्र व्यक्तित्व

ही में संकुचित न होकर देश और समाज तक फैल गया है। ऐसी कविता महाकाव्य के रूप में उत्पन्न होती है और उसका क्षेत्र वहिर्जगत में स्थित है।

इस प्रकार जीवन के प्रत्येक अंग में कविता का साम्राज्य है। चाहे वह विदित हो या अविदित। प्राचीन काल में जब मनुष्य पर्वतों के वक्षस्थल में निवास करता था, जब उसकी पशु-प्रवृत्ति ने उसके जीवन को केवल भूख-प्यास का नियमित प्रयास-काल वना रखा था, उस समय भी कविता थी। सूर्य-रश्मि का तिरस्कार करने वाली कन्दरा जव मनुष्य को अपनी गोद में सुलाया करती थी, उस समय भी कविता का अस्तित्व था। जब मनुष्य ने पत्थरों पर नाचते हुए किसी निर्झर को देखा होगा, तब क्या वह हर्ष से न नाच उठा होगा? जब उसने आकाश में बिजली को खेलते हुए देखा होगा, उस समय क्या उसने न मुस्करा दिया होगा? उसके उस नाच और मुस्कान ही मे कविता की सृष्टि हो गई थी। उस समय कविता की उस सृष्टि को शायद किसी ने नहीं जाना, किसी ने नहीं पहिचाना।

कविता की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति अधिकतर अन्तर्जगत के काव्य ही में होती है; क्योंकि उस काव्य में हृदय की सारी शक्ति और मादकता एक वेगवंती सरिता के समान उमड़ कर कवि की लेखनी से निकल पड़ती है। * उन पंक्तियों मे कवि का हृदय

---

* Lyric is projected through a mood of higher intensity
—John Drink Water

घुला रहता है; उसकी वेदना और आकांक्षा का सार मिला रहता है। उसका कारण है। जब कवि संसार से ऊपर उठकर अपने आराध्य की विभूति आँखें फाड़ कर देखता है तो वह भावोन्माद में, अपने हृदय की सभी भावनाओं को मुट्ठी में भर कर आराध्य की ओर उछाल देता है। वह विह्वल होकर अपनी आत्मा—वैयक्तिक तत्व—की पुकार आराध्य के सामने गा देता है। उस क्षणिक दर्शन में वह जो कुछ भी कहना चाहता है, एक बार ही कह जाता है। जब वह अपनी तड़पती हुई आत्मा को अपने आराध्य के सामने दिखला चुकता है तो वह फिर संसार के वातावरण में लौट आता है, जैसे उसने एक क्षण के लिये स्वप्न देखा हो। वह अपनी भाव-निद्रा से जाग उठता है और फिर उसी संसार के चक्र में घूमने लगता है। कीट्स ने जब बुलबुल को बोलते हुए सुना, उससे न रहा गया। क्षण भर के लिये वह भूल गया कि वह संसार में है। उसने अपने मन भर बुलबुल से बातें कीं। उस समय संसार में उसके लिये केवल दो वस्तुयें थीं। एक बुलबुल और दूसरी उसकी वेदना-भरी कहानी। उसने बुलबुल के सामने अपना हृदय फाड़ कर रख दिया। यह संसार ऐसा है, यहाँ इतने दुःख हैं, जितने उसने वृक्ष पर बैठे हुए शायद कभी नहीं जाने। यहाँ युवक प्रेत के कंकाल बनते हैं, सौन्दर्य अपनी रक्षा नहीं कर सकता किन्तु वह तो पूरे गले से गाती है, आनन्द में विभोर होकर। उसकी कभी मृत्यु नही हो सकती। राजा रंक दोनों ने समान होकर उसकी बोली सुनी है। रुथ के करुणार्द्र हृदय में भी उस बोली ने प्रवेश

पाया है। दो मिनट के वाद कवि की निद्रा भंग हो जाती है। बुलबुल का गायन बन्द हो गया था शायद इसीलिये। उस समय कवि को सन्देह होता है कि वह जागता है या सोता है। अथवा यह जागृत स्वप्न है।

अन्तर्जगत की कविता इसी प्रकार होती है। कवि सभी कुछ भूल जाता है। केवल वैयक्तिक भावना कुछ क्षणों के लिये एक ऊँचे वातावरण में उन्मत्त गायन स्वर में निकलती है और भाव का ज़ोर कम होने पर समाप्त हो जाती है, इसीलिये इस अन्तर्जगत के काव्य में साधारणतः चार बातें पाई जाती हैं :—

१—व्यक्तिगत भावना का अनिवार्य रूप से प्रवाह।

२—आरम्भ से लेकर अन्त तक एक ही विचार।

३—भावना का संक्षिप्त कलेवर।

४—गायन का उन्मत्त स्वर।

एक ही विचार को लेकर भावना का घनीभूत कलेवर संक्षिप्त होना ही चाहिये; क्योंकि कल्पना के प्रवाह में कवि उस दिव्य विभूति को अधिक समय तक तो देख ही नहीं सकता। वह तो भावना का एक ज्वलित विन्दु है, जहाँ कवि एक मिनट के लिये पहुँचा और वहाँ से गिरा। यदि भावना के उस उन्मत्त और ज्वलन्त स्थल पर कवि अधिक देर रहे या रह सके तो वह पागल अवश्य हो जायगा। उस उबलते हुए भावना के क्षेत्र में वह ठहर ही नहीं सकता, इसीलिए अन्तर्जगत का यथार्थ काव्य सदैव संक्षिप्त होगा, जिसमें केवल भावनाओं की आँधी होगी। अथवा जिसमें

उन्माद का गन्धक जल कर सारे वायुमंडल को घनीभूत कर देगा। यदि कोई ऐसा काव्य लम्बा हो तो यह निश्चय है कि कवि की भावना का क्षेत्र उथला है अथवा उसने अपने आराध्य की दिव्य विभूति देखने का अवसर ही प्राप्त नहीं किया है। ऐसी स्थिति में कविता बहुत ही शिथिल होगी। उसके शब्द बिखरे हुए होंगे और उन शब्दों का क्रम भी न्यूनातिन्यून प्रभावोत्पादक होगा। न तो उन पंक्तियों में हृदय का उल्लास होगा और न * 'सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम' ही होगा। अतएव उत्कृष्ट अन्तर्जगत का काव्य सदैव संक्षिप्त होगा।

हमारे साहित्य में सूर, मीराँ आदि के पद कितनी भावना से ओत-प्रोत तथा संक्षिप्त हैं! हम उन पदों को हृदय की सच्ची अनुभूति कह सकते हैं और अन्तर्जगत काव्य के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में रख सकते है। मीराँ, सूर, कबीर, विद्यापति ने अपनी पंक्तियों को आराध्य के विचार की कितनी घनीभूत भावना से युक्त कर भिन्न भिन्न रागों और रागिनियों में गाया है! उनकी राग रागिनियों में हम कोलरिज का सिद्धान्त 'सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम' पा सकते हैं।

हमारे साहित्य में संगीत का बड़ा महत्व-पूर्ण स्थान है। इस-का कारण कदाचित् यह हो कि हमारा साहित्य धर्म की गोद में

---

* The best words in the best order

—Coleridge

खेल कर ही बड़ा हुआ है। धर्म का प्रतिपादन और प्रचार सङ्गीत के सहारे जितना अच्छा हो सकता है, उतना कदाचित् अन्य साधन से नहीं। इसीलिये हमारे यहाँ के सन्त और धर्म-प्रचारक सदैव अपने सिद्धान्तों को पदों के रूप में गाते फिरते थे। कम से कम यह तो निश्चय है कि हिन्दी साहित्य के सभी सन्तों में गीति-काव्य की प्रधानता है और वह प्रधानता इसीलिये है कि वे अपने मत का प्रचार करते थे अथवा दूसरों के सामने अपने मत का स्वरूप स्पष्ट रखते थे। फिर यदि धर्म व्यक्तिगत भावना से सम्बन्ध रखता है और यदि उसका निरूपण काव्य में किया जाय तो सङ्गीत की सार्थकता स्पष्ट ज्ञात हो जाती है। हमारे यहाँ तो सङ्गीत ही एक वृहत् शास्त्र है। किस समय कौन-सा राग गाना चाहिये, किस भावना के लिये कौन-सा राग उपयुक्त है; इसकी सूक्ष्म विवेचना से हमारे प्राचीन सङ्गीतज्ञों की प्रतिभा का पता चलता है। श्रीराग की वसन्त, मालवी, केदारी, आसावरी और धनाश्री रागिनियाँ होनी चाहिये अथवा भैरव राग की भैरवी, रामकली, गुर्जरी, मधु, माधवी, बरारी और सैंधवी रागिनियाँ होनी चाहिये; इन बातों का विश्लेषण ही हमारे सामने यह स्पष्ट कर देता है कि हमारे प्राचीन आचार्य शब्द और ध्वनि की बारीकियों को खूब जानते थे। सम्भव है निरक्षर कबीर ने इन बातों का पता न लगाया हो, मीराँ ने सङ्गीत शास्त्र अध्ययन न किया हो, पर सङ्गीत उस समय के वातावरण में इतना व्याप्त हो गया जान पड़ता है कि साधारण से साधारण

व्यक्ति, विशेष कर कवि, कम से कम रागों का रूप अवश्य जानता होगा। इस विषय का निरूपण तो यहाँ करना ही नहीं है, हमें तो यही जानना है कि हमारे यहाँ के कवियों ने अपने अन्तर्जगत का रहस्य किस प्रकार हमारे सामने रखा है।

मीराँ

सदृरिस गोपिन प्रेम प्रगट कलजुगहिं दिखायो।
निर अकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
दुष्टन दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँको भयो गरल अमृत ज्यो पीयो॥
भक्ति निसान वजाय कै काहू ते नाहीं लजी।
लोक-लाज कुल शृंखला तजि मीराँ गिरधर भजी॥

—नाभादास-भक्तमाल

मीराँ

राव जोधा जी जोधपुर के संस्थापक थे। उनके पुत्र राव दूदा जी बड़े पराक्रमी थे। उन्होंने अपने पराक्रम से मेड़ते में राज्य स्थापित किया था। राव दूदा जी के चतुर्थ पुत्र का नाम था रत्नसिंह। उन्हें मेड़ता राज्य की ओर से १२ गाँव निर्वाह के लिये मिले थे†। उन गाँवों में एक गाँव का नाम था कुड़की। उसी कुड़की गाँव मे संवत् १५५५ के लगभग रत्नसिंह के गृह में एक पुत्री हुई, उसका नाम रखा गया मीराँ।

मीराँ की बाल्यावस्था ही में उनकी माँ का देहान्त हो गया था*। अतएव मीराँ का क्रीड़ा-स्थल माँ की गोद से हट कर पितामह दूदा जी की गोद में आ गया। दूदा जी बड़े भारी वैष्णव थे। उनके निरन्तर साथ रहने के कारण बालिका मीराँ में भी वैष्णव धर्म के तत्वों का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ। मीराँ के जीवन में इसी घटना का प्राधान्य हो गया था, यह बात ध्यान मे रखने योग्य है।

दूदा जी की मृत्यु के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव जी राज्य-सिहासनासीन हुए। उन्होंने १८ वर्ष की अवस्था में मीराँ

---

† उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृ० ३५६।

* देवीप्रसाद कृत मीराबाई का जीवन-चरित।

का विवाह चित्तौड़ के महाराजा साँगा जी के ज्येष्ठ कुमार भोजराज के साथ कर दिया†। विवाह के कुछ वर्षों बाद संभवतः १५८० संवत् के लगभग भोजराज का देहान्त हो गया। उसी समय से हम मीराँ के हृदय में उस अलौकिक भक्ति का उदय पाते हैं, जिसने उन्हें हिन्दी साहित्य में अमर कर दिया है। उन्हें पति-शोक तो अधिक नहीं हुआ, उन्होंने अपनी सारी भावनाओं को कृष्ण की ओर मोड़ दिया। कृष्ण ही उनके पति हो गये और उन्हीं की भक्ति में मीराँ ने अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। लौकिक पति यदि नहीं था तो पारलौकिक पति तो अवश्य ही था, जो मीराँ के लिये कभी मर नही सकता था।

संवत् १५८४ में बाबर और साँगा के युद्ध में मीराँ के पिता रत्नसिंह मारे गये। उधर ससुर साँगा का भी देहान्त हो गया*। साँगा के बाद भोजराज के छोटे भाई रत्नसिंह मेवाड़ के राजा हुए। संवत् १५८८ में रत्नसिंह का भी देहान्त हो गया। फलतः रत्नसिंह के सौतेले भाई विक्रमादित्य चित्तौड़ के राजा हुए।

राज्यासन के इस प्रकार शून्य और अलंकृत होने की संधि में—राज्य का उत्थान और पतन होने के परिवर्तन काल में—मीराँ की भक्ति का स्रोत वेगवान नदी के समान तीव्र वेग से बहने लगा था। साधु-संदर्शन, कृष्ण कीर्तन के आध्यात्मिक प्रवाह में बह कर वे संसार की असारता का स्वप्न देखा करती थीं। इनके भजनों की लहर

† उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृष्ठ ३५८—३६०।

* तुज़ुक बाबरी, पृष्ठ ५७३।

में भक्ति की ऐसी धारायें उठी कि उनसे न जाने कितनी पापात्मायें पुण्य के उज्ज्वल रंग मे डूब गई। साधु संतों का समागम उस समय चित्तौड़ के महाराणा विक्रमादित्य जी सहन नहीं कर सके, उन्होंने मीराँ के समझाने का बहुत प्रयत्न किया। अनेक स्त्रियों को भेजा, स्वयं अपनी बहिन ऊदाबाई को भी समीप रखा, पर कुछ फल नहीं हुआ। कहते हैं क्रोध में आकर राना ने विष भेजा यह कह कर कि यह भगवान का चरणामृत है। मीराँबाई ने उसे सहर्ष पान कर लिया। उनके लिए वह अमृत हो गया। कुछ लोगों का मत है कि इसी विष से मीराँ का अन्त हुआ, पर मीराँ ने इस घटना का निर्देश किया है। भाव-भाषा शैली और अन्तरात्मा के विचार से हम उस पद को क्षेपक नहीं मान सकते। वह पद इस प्रकार है :—

म्हाँरे सिर पर सालिगराम,

राणा जी म्हाँरो काँई करसी।

मीराँ सूँ राणा ने कही रे, सुण मीराँ मोरी बात।
साधों की संगत छोड़ दे रे, सखियाँ सब सकुचात॥
मीराँ ने सुन यों कही रे, सुन राणा जी बात।
साध तो भाई बाप हमारे, सखियाँ क्यूँ घबरात॥
जहर का प्याला भेजिया रे, दीजो मीराँ हाथ।
अमृत कर के पी गई रे, भली करे दीनानाथ॥
मीराँ प्याला पी लिया रे, बोली दोउ कर जोर।
तैं तो मारण की करी रे, मेरो राखणहारो और॥

इस विपत्ति में उन्होंने श्री तुलसीदास जी को एक पत्र लिखा था† और उनसे अपने भविष्य जीवन का कार्य-क्रम पूछा था, वह पत्र इस प्रकार था :—

श्री तुलसी सब सुख निधान, दुखहरन गुसाँई।
बारहिं बार प्रनाम करूँ, अब हरो सोक समुदाई ॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबन उपाधि बढ़ाई।
साधु-संग अरु भजन करत मोहि, देत कलेस महाई ॥
बालपनें ते मीराँ कीनी, गिरधरलाल मिताई।
सो तौ अब छूटत नहिं क्योंहू, लगी लगन बरियाई ॥
मेरे मात-पिता के सम हौ, हरि-भक्तन सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखियो समुझाई ॥

इसके उत्तर में तुलसीदास जी ने एक पद और एक सवैया लिख कर भेजा :—

पद

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।
तज्यौ पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी,
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनिता भये सब मंगलकारी।

---

† तब आयो मेवाड ते, विप्र नाम सुखपाल।
मीराबाई पत्रिका, लायो प्रेम प्रबाल ॥
पढ पाती उत्तर लिखे, गीत कवित्त बनाय।
सब तजि हरि भजिबो भलो, कहि दिय विप्र पठाय ॥
नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग ७, पृष्ठ ३७९।

नातो राम-नेह सो मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं,
अंजन कहा आँख जो फूटै, बहुतक कहौ कहाँ लौं।
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रान ते प्यारो,
जासो होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो।

सवैया

सो जननी सो पिता सोइ भ्रात सो भामिन सो सुत सो हित मेरो।
सोई सगो सो सखा सोई सेवक सो गुर सो सुर साहिब चेरो॥
सो तुलसो प्रिय प्रान समान कहाँ लौं बताइ कहौं बहुतेरो॥
जो तजि गेह को देह को नेह सनेह सों राम को होय सबेरो॥

जिस समय मीराँबाई इस उलझन मे थी, उसी समय मीराँ के कष्ट सुन कर वीरमदेव ने मीराँ को चित्तौड़ में बुला लिया और वे उन्हें बड़े प्रेम से रखने लगे। मीराँ के चित्तौड़ से आ जाने पर उस पर बड़ी विपत्तियाँ आईं। गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने चित्तौड़ छीन लिया और अन्त मे विक्रमादित्य जी मारे गये।

इधर जोधपुर के राव मालवदेव ने वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया। इन दोनों स्थानों मे विपत्तियों के बादलों ने मीराँ का मुख मलीन कर दिया। उनके हृदय में वैराग्य का अंकुर फूट निकला और उन्होंने वृन्दावन और द्वारिका तीर्थ करने के लिये अपनी जीवन-नौका अनिश्चित परिस्थिति-प्रवाह में डाल दी।

कुछ वर्षों बाद चित्तौड़ और मेड़ते मे पुनः वैभव और श्री का साम्राज्य हुआ। वहाँ से मीराँ को बुलाने के लिये अनेक आदमी भेजे गये, किन्तु वे तो श्रीकृष्ण के प्रेम-सागर में विहार कर रही

थीं। भला उस प्रेम-विहार को छोड़ कर संसार की अरण्य-भूमि में कौन आना चाहेगा? कहते हैं कि चित्तौड़ से आये हुए कुछ ब्राह्मणों ने मीराँबाई के सम्मुख सत्याग्रह कर दिया। उन्होंने कहा, जब तक आप चित्तौड़ न लौट चलेंगी हम लोग अन्न-जल भी ग्रहण न करेंगे। मीराँबाई ने हार मान कर चलना स्वीकार किया, पर रनछोड़ जी से मिलने के लिये वे मंदिर में चली गईं। वहाँ विरह के आवेश में वे इतनी मग्न हुईं कि कहते हैं कि मूर्ति ने उन्हें अपने में अन्तर्हित कर लिया। इस प्रकार मीराँ ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ ने उनका देहान्त संवत् १६०३ माना है। वेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित संतवानी सीरीज़ की मीराँबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र में इस पर आपत्ति की गई है। उसमें लिखा है :—

"मुंशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ़ राज जोधपुर ने इनके जीवन-चरित्र में एक भाट के ज़बानी लिखा है कि इनका देहान्त संवत् १६०३ विक्रमी अर्थात् सन् १५४६ ई० में हुआ; परन्तु भक्तमाल से इन दो बातों का प्रमाण पाया जाता है :—

(१) अकबर बादशाह तानसेन के साथ इनके दर्शन को आया।

(२) गुसाँई तुलसीदास जी से इनका परमार्थी पत्र-व्यवहार था।

समझने की बात है कि अकबर सन् १५४२ ई० में पैदा हुआ और सन् १५५६ ई० में तख़्त पर बैठा और गुसाँई तुलसीदास

सन् १५३३ ई० (सम्वत् १५८६ विक्रमी) में पैदा हुए तो यदि मीरांबाई के देहान्त का समय सन् १५४६ ई० में मान लिया जाय तो अकबर की उम्र उस समय चार बरस की होती है और गुसांई जी की १४ बरस की, जोकि न तो अकबर को साधु-दर्शन की उमंग उठने की अवस्था मानी जा सकती है और न गुसाँई जी की भक्ति और कीर्ति की प्रसिद्धि का समय कहा जा सकता है। इसलिये हमको भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्र जी स्वर्गवासी का अनुमान कि मीराँबाई ने संवत् १६२० और १६३० विक्रमी के दर्मियान शरीर त्याग किया, ठीक जान पड़ता है जैसा कि उन्होंने उदयपुर दर्बार की सम्मति से निर्णय किया था और कवि-वचन-सुधा की एक प्रति में छापा था।"†

बाबा वेनीमाधवदास का गुसाँई-चरित, जिसमे तुलसीदास का जीवन-वृत्तान्त वर्णित है, अभी हाल ही में मिला है। उसमें तुलसीदास जी की जन्म-तिथि इस प्रकार दी गई है :—

पन्द्रह सै चउवन विषै, कालिंदी के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर ॥*

बावा वेनीमाधवदास तुलसीदासजी के शिष्यों में से थे। उन्होंने तुलसीदास जी के सत्संग का लाभ उठाया था तथा उनका साथ बहुत दिनों तक किया था। यदि गुसाँईचरित जाली नहीं है तो उनसे अधिक विश्वस्त हमें कोई नहीं

---

† बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित मीराबाई की शब्दावली (जीवन-चरित)।
* नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग ७, पृष्ठ ३६४।

जान पड़ता। अतएव उन्होंने जो कुछ लिखा, उसे हमें सत्य मानने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती। गुरु में श्रद्धा होने के कारण बेनीमाधवदास ने कुछ बातों में अत्युक्ति अवश्य कर दी हो, पर तिथि को वे घटा बढ़ा नहीं सकते थे, अतएव हम तुलसीदास जी की जन्म-तिथि संवत् १५५४ मानते हैं। यदि मीराँबाई ने संवत् १६०३ में अनन्त यात्रा की जैसा कि मुंशी देवीप्रसाद लिखते हैं तो उस समय तुलसीदास की आयु ४८ वर्ष की होगी। उस समय तक तुलसीदास जी काफ़ी ख्याति पा चुके होंगे और वैष्णव धर्म के बड़े भारी साधु गिने जाते होंगे, अतएव मीराँ और तुलसीदास में पत्र-व्यवहार होना संभव है।

रही अकबर से मिलने की बात। यह बात अवश्य है कि अकबर सन् १५४२ ई० में अमरकोट में पैदा हुआ। इस तिथि के अनुसार वह मीराँ की मृत्यु के समय ४ वर्ष का अवश्य रहा होगा। इतनी छोटी सी आयु में वह मीराँ से मिलने की इच्छा रखने में असमर्थ होगा। यदि हमें नाभादास के भक्तमाल की यह बात कि अकबर तानसेन के साथ मीराँ से मिलने आया, सत्य है तो मीराँ की मृत्यु संवत् १६०३ के बहुत पीछे होनी चाहिये। उस स्थिति में हमें भारतेन्दु की तिथि का सहारा लेना पड़ेगा। जो हो, अभी तक मीराँ की मृत्यु-तिथि अनिश्चित है।

मीराँ की कविता भक्ति-भावना में मीन की भाँति डूबी हुई है। उसका अस्तित्व भक्ति से अलग नहीं किया जा सकता। मीराँ के संसार में भावना ही फैल कर वायु की भाँति बहती रहती है, वह

भावना भी ऐसी है कि उसका निवास हृदय के अन्तरतम स्थान में है, रूखे सूखे मस्तिष्क में नहीं।

गीति-काव्य के अनुसार हम मीराँ की कविता को आदर्श मानते हैं। उन्होंने न तो रीति-शास्त्र की गवेषणा की और न अलंकार शास्त्र की। उनके हृदय में निर्भर की भाँति भाव आये और अनुकूल स्थल पाकर प्रकट हो गये। भाव, अनुभाव, संचारी भावों के बादलों में उनकी कविता-चंद्रिका नहीं छिपी, वरन् निरभ्र हृदयाकाश से बरस पड़ी। जहाँ पड़ी चाँदनी की तरह, जहाँ बरसी दुग्ध-धारा की भाँति। हृदय की भावना मन्दाकिनी की भाँति कलकल करती हुई आई और मीराँ के कंठस्थ सरस्वती की संगीत-धारा में मिल गई। वही भावना संगीत का सार बनी और उसी में मीराँ के हृदय की अनुभूति मिली।

मीराँ ने 'गिरिधर गोपाल' को रिझाया है, उन्हें अपना लिया है। वे 'गिरिधर गोपाल' को अपने पति के रूप मे देखती हैं :—

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।

इसी भावना में उनकी कविता गूँजी है। इसीलिये तो उस परमात्मा रूपी पति के विरह मे मीराँ ने न जाने कितनी रातें जाग कर बिताई हैं। कृष्ण को न जाने कितने उलहने दिये हैं और अन्त मे उनसे इसी प्रकार याचना की है जिस प्रकार कोई पति-परायणा स्त्री अपने पति से प्रणय-भिक्षा माँगती है। वह भी इतने करुण स्वरों मे कि मीराँ की पीड़ा को समझ कर हृदय रो उठता है, वह भी मीराँ के स्वर में अपना स्वर मिला कर गोपाल से विनती करने

लगता है, वह भी मीराँ के कोमल करुण विचारों में लीन हो जाता है। भावना की इससे अधिक सम्पत्ति नहीं जुटाई जा सकती थी।

मीराँ ने शृंगार रस के प्याले में अपनी लेखनी डुबा कर अपने भावों का प्रकाशन किया है, पर इस शृंगार में वासना की बू भी नहीं आने पाई। कितना आत्म निवेदन है, कितना विरह है, पर वह है आध्यात्मिक, सांसारिक नहीं।

रैन अँधेरी विरह घेरी, तारा गिणत निस जात।
लै कटारी कंठ चीरूँ करूँगी अपघात ॥
पाट न खोल्या, मुखाँ न बोल्या, साँझ लाग परभात।
अबोलना मे अवध बीती, काहे की कुसलात ॥

यह विरह की सच्ची कहानी है। अंधकार मय रजनी है। प्रियतम मौन है, हृदय में विरह-ज्वाला है। बेचारी विरहिणी आकाश के तारों पर दृष्टि डाल कर उन्हें गिन रही है। संध्या से प्रभात तक न तो प्रियतम ने द्वार ही खोला है और न मुख से एक शब्द ही कहा। सारा समय मौन ही में व्यतीत हो गया। उफ़, कितनी व्यथा है, क्या मेरी कुशलता पूछ रही हो!

यह एक विरहिणी की कितनी स्वाभाविक उक्ति है, पर इसमें आध्यात्मिक तत्व की कितनी व्यथा सन्निहित है! पाट का अर्थ यदि माया के परदे से ले लिया जावे तो सारे पद पर आध्यात्मिक सत्य का प्रकाश पड़ जाता है और भौतिकता में अलौकिकता का रंग आ जाता है। यही मीराँ की करुणा है, यही उसकी वेदना है और इसी वेदना के हटाने का उपाय मीराँ स्वयं करती हैं:—

'मीराँ की प्रभु पीर मिटैगी जब वैद समलिया होय'

बात यह है कि मीराँ अन्तस्तल से गाती है, उसे बाह्य शृंगार की परवा नहीं है। वह योगिनी है, प्रेम की योगिनी है। उसकी कविता प्रकृति के झरने के समान उमड़ पड़ती है। उसकी भक्ति की निर्मल धारा में वासना-बालू के कण नहीं घूमते। दूसरा उदाहरण भावव्यंजना में प्रथम से भी उत्कृष्ट है:—

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिया को पंथ निहारते, सब रैन बिहानी हो॥
सखियन मिल के सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिन देखे कल ना परै जिय ऐसी ठानी हो॥
अंग छीन व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।
अंतर बेदन बिरह की वह पीर न जानी हो॥
ज्यों चातक घन को रटै मछरी जिमि पानी हो।
मीराँ व्याकुल बिरहनी सुध बुध बिसरानी हो॥

मीराँ एक कोकिला-सी बैठ कर अपने गिरिधर गोपाल का गीत गाती है। वह पृथ्वी पर नहीं है, वृक्ष की सबसे ऊँची डाल पर स्वर्ग के कुछ पास है। विद्यापति, जो कृष्ण के उत्कृष्ट उपासक हैं, हिरन की भाँति दिन भर उपमा रूपक के उपवनों में चौकड़ी भरा करते हैं, थक कर वहीं सो रहते हैं, पर मीराँ रात की निस्तब्धता में भी कुहू कुहू की पुकार से समस्त वन को गुंजित कर देती है।

देवगंधार

बसो मेरे नैनन मे नँदलाल

सोहनी मूरत साँवली सूरत बने नैन विसाल ।

अधर सुधा रस मुरली राजित उर बैजंती माल ॥

छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर सव्द रसाल ।

मीराँ प्रभु सन्तन सुखदाई भक्त बछल गोपाल ॥

कल्याण

मेरो मन रामहि राम रटै रे

राम नाम जप लीजै प्राणी कोटिक पाप कटै रे।
जनम जनम के खत जु पुराने नामहि लेत फटै रे॥
कनक कटोरे इमृत भरियो पीवत कौन नटै रे।
मीराँ कह प्रभु हरि अविनासी तन मन ताहि पटै रे॥

कान्हरा

आये आये जी म्हाँरे महाराज आये,
निज भक्तन के काज बनाये।
तज वैकुंठ तज्यो गरुड़ासन पवन वेग उठि धाये ॥
जब ही दृष्टि परे नँदनंदन प्रेम भक्ति रस प्याये।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित लाये ॥

मारु

नैना लोभी रे वहुरि सके नहिं आय
रोम रोम नख सिख सब निरखत ललच रहे ललचाय ॥
मै ठाढ़ी गृह आपने रे मोहन निकसे आय ।
सारँग ओट तजे कुल अंकुस वदन दिए मुसकाय ॥
लोक कुटुम्बी वरज वरजही वतियाँ कहत वनाय ।
चंचल चपल अटक नहिं मानत पर हथ गए बिकाय ॥
भली कहो कोइ वुरी कहो मैं सब लई सीस चढ़ाय ।
मीराँ कह प्रभु गिरधर के बिन पल भर रहो न जाय ॥

जैजैवन्ती

सोवत ही पलका में मैं तो पलक लगी पल में पिउ आये ।
मै जु उठी प्रभु आदर देन कूॅ जाग पड़ी पिउ ढूॅढ़ न पाये ॥
और सखी पिउ सूत गमाये मै जु सखी पिउ जागि गमाये ।
आज की बात कहाँ कहूँ सजनी सुपना मे हरि लेत बुलाये ॥
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी आज भये सखि मन के भाये ।
वो माहरो सुन अरु गुनि है बाजे अधिक बजाये ॥
मीराँ कहे सत्त करि मानो भक्ति मुक्ति फल पाये ॥

जंगला

कभो म्हाँरी गली आव रे, जिया की तड़प बुझाव रे,

म्हाँरे मोहना प्यारे ॥

तेरे साँवल बदन पर कई कोट काम वारे।

तेरी खूबी के दरस पै नैन तरसते म्हाँरे ॥

घायल फिरूँ तड़फती पीड़ जाने नहि कोई।

जिस लागी पीड़ प्रेम की जिन लाई जाने सोई ॥

जैसे जल के सोख मीन क्या जिवै विचारे।

कृपा कीजै दरस दीजै मीराँ नन्द के दुलारे ॥

सावन

मतवारो बादल आयो रे, हरि को सँदेसो कछु नहि लायो रे।
दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल सब्द सुनायो रे॥
कारी अँधियारी बिजली चमके, बिरहिन अति डरपायो रे।
गाजे बाजे पवन मधुरिया, मेहा अति झड़ लायो रे॥
फूँके काली नाग बिरह की जारी, मीराँ मन हरि भायो रे॥

होली

होली पिया बिन मोहि न भावै,
घर आँगण न सुहावै।
दीपक जोय कहा करूँ हेली, पिय परदेस रहावै
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागे, सुसक सुसक जिय जावै
नींद नैन नहि आवै।
कब की ठाढ़ी मै मग जोऊँ, निस दिन बिरह सतावै
कहा कहूँ कछु कहत न आवै, हियड़ो अति अकुलावै
पिया कब दरस दिखावै।
ऐसो है कोई परम सनेही, तुरत सँदेसो लावै
वा बिरियाँ कब होती मोकूँ, हँस कर निकट बुलावै
मीराँ मिल होली गावै।

सोरठ

छाँड़ो लॅगर मोरी बहियाँ गहो ना ।

मै तो नार पराये घर की मेरे भरोसे गोपाल रहो ना ।

जो तुम मेरी बहियाँ गहत हो नयन जोर मेरे प्राण हरो ना ॥

बृन्दाबन की कुंज गली मे रीत छोड़ अनरीत करो ना ।

मीराँ के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चित टारे टरो ना ॥

सावन

रे पपइया प्यारे कब को वैर चितारो ।
मैं सूती थी अपने भवन मे, पिय पिय करत पुकारो ।
दाध्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़े करवत सारो ॥
उठि वैठ्यो वृक्ष की डाली, बोल बोल कंठ सारो ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरना चित धारो ॥

सावन

सुनी मैं हरि आवन की अवाज ।
महल चढ़ि चढ़ि जोऊँ मोरी सजनी, कब आवे म्हराज ॥
दादुर मोर पपीहा बोले, कोइल मधुरे साज ।
उमग्यो इन्द्र चहूँ दिस बरसे, दामिन छोड़ी लाज ॥
धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द्र मिलन के काज ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, वेग मिलो म्हराज ॥



सूरदास

उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी॥
प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जन्म कर्म गुन रूप सबै रसना जु प्रकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन स्रवननि धरै।
श्रीसूर कवित सुन कौन कवि,जो नहि सिर चालन करै॥

—भक्तमाल-(नाभादास)

सूरदास

सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण की भक्ति-भावना को लेकर व्रज-भाषा की बाँसुरी बजी। भारत का कोना कोना गूँज उठा। उसका स्वर लेकर भाषा के न जाने कितने कवि भाषा भाषियों के ओठों पर आकर अमर हो गये। उसी समय श्याम की सूरत दिव्य आँखों से देखने वाले महाकवि सूर के गीतों की वीणा बज उठी। तार गूँजे और समा बँध गया। मीड़ हिली, वायु की तरंगें हिली और जान पड़ने लगा कि हृदय के हिलने के साथ ही सारा संसार हिल रहा है। माया मोह के परदे के भीतर—सांसारिकता के वातावरण में—लौकिक माता-पिता के प्रेम में एक दिव्य शक्ति नाचने लगी—सूर की वीणा पर ताल देने लगी। वह थी बालक कृष्ण की सौम्य मूर्ति। सूर का स्वर गूँजा और ख़ूब गूँजा। यहाँ तक कि सूर की भावना स्वयं गीत बनकर सारे संसार मे चाँदनी की भाँति छिटक गई। अंधकार मे प्रकाश आ गया। सुन्दरता में सौम्यता आ गई। ओठों में सोम रस भर गया। यह सोम रस वह है, जिसमें नशा नही, मादकता नहीं।

हिन्दी साहित्य में सौन्दर्य का अथाह सागर भरने वाले सूर का काल-निर्णय अभी तक अंधकार में है, उसका निर्णय अभी तक नहीं हुआ है। सूरदास के विषय में समकालीन लेखकों ने जो

कुछ लिखा है, उससे उनका परिचय मात्र मिलता है, उनके जन्म मृत्यु का समय नहीं। अबुलफ़ज़ल† ने आईन-ए-अकबरी में केवल इतना ही लिखा है कि रामदास नामक गाने वाला अकबर के दरबार में गाता था। उसका लड़का सूरदास भी अपने पिता के साथ आया करता था। इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। नाभादास ने भक्तमाल* में केवल उनका परिचय मात्र दिया है। स्वयं सूरदास ने अपने विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं लिखा है। सूरदास का एक जीवन-चरित्र मिलता है, कहते हैं यह इन्हीं का लिखा है। वह इस प्रकार है :—

प्रथम ही प्रथ जगाते मे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥

---

† Badoni says, Ram Das came from Lakhnau He appears to have been with Bairam Khan during his rebellion, and he received once from him one lakh of Tankahas, empty as Bairam Khan's treasure chest was He was first at the court of Islam Shah and is looked upon as second only to Tansen His son Sur Das is mentioned below

Ain-i-Akbari Vol I Page No- 612n.
translated by Blockmann (1873)

* श्रीसूर कवित सुन कौन कवि जो नहि सिर चालन करै।
उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति अति भारी॥
वचन प्रीति निर्वाह, अर्थ अद्भुत तुक धारी।
प्रतिविम्बित दिवि दृष्टि हृदय हरि लीला भासी॥
जन्म कर्म गुन रूप सबै रचना जु प्रकासी।
विमल बुद्धि गुनि और की, जो वह गुन स्रवननि धरै॥
श्रीसूर कवित सुनि कौन कवि, जो नहि सिर चालन करै॥—भक्तमाल

पान पय देवी दियो शिव आदि सुर सुख पाय।
कहा दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति दुखदाय ॥

पार पायन सुरन के पितु सहित अस्तुति कीन।
तासु वंश प्रशंस मे भौ चंद चारु नवीन ॥
भूप पृथ्वीराज दीनों तिन्है ज्वाला देश।
तनय ताके चार कीन्हो प्रथम आप नरेश ॥

दूसरे गुणचन्द तासुत शीलचन्द सरूप।
वीर चन्द प्रताप पूरण भयो अद्भुत रूप ॥
रंतभार हमीर भूपत संग खेलत आप।
तासु वश अनूप भो हरचन्द अति विख्यात ॥
आगरे रहि गोपचल मे रहो तासुत वीर।
पुत्र जनमे सात ताके महाभट गर्भीर ॥
कृष्ण चन्द उदार चन्द जो रूपचन्द सुभाइ।
बुध चन्द प्रकाश चौथौ चन्द भै सुखदाइ ॥

देवचन्द प्रवोध संसृत चन्द • ताको नाम।
भयो सप्तो नाम सूरज चन्द मंद निकाम ॥
सो समर करि साहि सेवक गये विधि के लोक।
रहो सूरज चन्द दृग ते हीन भर भर शोक ॥

परो कूप पुकार काहू सुनी न संसार।
सातएं दिन आइ यदुपति कियो आप उधार ॥
दियो चख दै कही शिशु सुनु माँग वर जो चाइ।
हो कहो प्रभु भगत चाहत शत्रु नाश सुभाइ ॥

दूसरो ना रूप देखो देखि राधा श्याम।
सुनत करुणासिंधु भाषी एवमस्तु सुधाम॥
प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें शत्रु ह्वै है नास।
अखिल बुद्धि विचारि विद्यामान माने मास॥
नाम राखे मोर सूरजदास, सूर, सुश्याम।
भये अन्तर्धान बीते पाछली निशि याम॥
मोहि पनसो इहै ब्रज की बसे सुख चित थाप।
थपि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप॥
विप्र प्रथू जगात को है भाव भूर निकाम।
सूर है नँदनन्द जू को लयो मोल गुलाम॥[1]

इसमें उन्होंने अपने को चंद का वंशज माना है। उनके छः भाई थे, जो युद्ध में मारे गये। वे अंधे थे। कुएँ में गिरने पर कृष्ण द्वारा निकाले गये आदि आदि; पर 'प्रबल दच्छिन विप्र कुल' का जो वर्णन है, वह सूर के बहुत पीछे की बात है। इस जीवन-चरित्र की सत्यता में सन्देह है, क्योंकि इसका आधार ऐतिहासिक नहीं है। सूरदास के ग्रन्थों से कहीं कहीं उनके काल-निर्णय की सामग्री मिल जाती है। इसीके सहारे हमें कवि का काल-निर्णय करना है। इतने बड़े भूसे के गट्ठर में बीज के दो दाने न जाने कहाँ होंगे।

यह निश्चित है कि सूरदास जी वल्लभाचार्य के शिष्य थे। चौरासी वार्ता में लिखा है कि सूरदास जी गऊघाट पर निवास

---

[1] साहित्य लहरी, पद ११८।

करते थे।† उस समय वे अनुभव-हीन थे। कुछ समय बाद उन्हें वल्लभाचार्य के दर्शन हुए और वे उनके शिष्य हो गये। ऐसी स्थिति में हमें सूरदास को वल्लभाचार्य से छोटा ही मानना होगा। भारतेन्दु जी ने वल्लभाचार्य का जन्म १५३५ सं० माना है।‡ अतएव सूरदास १५३५ संवत् के पहिले नहीं थे। वार्ता मे यह लिखा है कि सूरदास जी की मृत्यु वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ जी के सामने हुई।* विट्ठलनाथ जी की मृत्यु का समय संवत् १६४२ था। अतएव सूरदास का समय संवत् १५३५ से १६४२ के बीच में होगा। उनके जन्म मरण की तिथियाँ इन दोनों संवतों में मेघ में बूँदों की भाँति छिपी है।

सूरदास जी ने सूरसागर के अतिरिक्त दो ग्रन्थ और लिखे है, साहित्यलहरी और सूरसारावली। ये दोनों ग्रन्थ सूरसागर के पीछे बने होंगे; क्योकि साहित्यलहरी के पदों का संकलन सूरसागर मे कहीं नही है प्रत्युत साहित्यलहरी ही में सूरसागर के कुछ पदों का संकलन है। सूरसारावली भी सूरसागर के पीछे बनी होगी; क्योंकि सारावली मे सूरसागर के पदों का विवरण है और ग्रन्थ सम्पूर्ण होने के बाद ही उसके पदों का विवरण दिया जा सकता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य लहरी और सूरसारावली ये दोनों ग्रन्थ सूरसागर के बाद लिखे

---

† सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी कौ स्थल हुतौ..आदि—चौरासी वैष्णवन की वार्ता पृ० २७२।

‡ भारतेन्दु कृत चरितावली पृ० ९१। * चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृ० २९०।

गये। साहित्यलहरी में उन्होंने उसकी रचना का संवत् इस प्रकार दिया है:—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नन्द को लिखि सुबल सम्वत पेख ॥
× × × ×
तृतिय ऋक्ष सुकर्म योग विचारि सूर नवीन।
नन्द नन्दन दास हित साहित्यलहरी कीन ॥*

काव्य के नियमानुसार इस पद मे से [मुनि=७, रसन (जिसमें रस नही)=०, रस=६, दसन गौरी नन्द=१] १६०७ संवत् निकलता है, अर्थात् साहित्य लहरी की रचना का संवत् १६०७ था। सूरसारावली मे एक स्थान पर है :—

गुरु प्रसाद होत यह दरसन, सरसठि बरस प्रवीन।
शिव विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन ॥†

अर्थात् सूरसारावली लिखते समय सूरदास की अवस्था ६७ वर्ष की थी। यदि हम सूरसारावली और साहित्यलहरी का रचना-काल एक ही मानें (जैसा कि बहुत सम्भव है, क्योंकि दोनों पुस्तकें सूरसागर के बाद ही बनीं) तो संवत् १६०७ में सूरदास की आयु ६७ वर्ष की रही होगी अर्थात् उनका जन्म संवत् १५४० मे हुआ होगा। जितना अन्तर सूरसारावली और साहित्यलहरी के रचना-काल में होगा उतना ही अन्तर जन्म-संवत् में पड़ जायगा, पर अनुमान से यह कहा जा सकता है कि

---

* छन्द नं० १०९। † छन्द नं० १००२।

दोनों के रचना-काल में अधिक वर्षों का अन्तर नहीं हो सकता। अतएव सूरदास का जन्म-संवत् १५४० या उसके आस पास ही होगा।

यह निश्चित है कि सूरदास की मृत्यु विट्ठलनाथ जी के सामने ही हुई। विट्ठलनाथ जी का मृत्यु-संवत् १६४२ है। अतएव सूरदास जी संवत् १६४२ के पहिले ही मरे होंगे। कुछ समालोचकों का मत है कि सूरदास १६४० संवत् तक जीवित थे। अबुलफ़ज़ल ने एक ग्रन्थ और लिखा है, उसका नाम 'इंशा-ए-अबुलफ़ज़ल' है। उसमें बहुत से पत्रों का संग्रह है। उसके अंत में एक पत्र सूरदास के नाम का भी है, जो बादशाह की आज्ञा से सूरदास को काशी में अबुलफ़ज़ल ने लिखा था। उस पत्र में कोई तिथि नहीं दी गई है, पर मुंशी देवीप्रसाद अकबरनामा के अनुसार अकबर का प्रयाग में आना और क़िला तथा बाँध बनवाना सं० १६४० समझते है। इसी समय सूरदास अकबर से मिले होंगे। इसके अनुसार सूरदास की मृत्यु संवत् १६४० और १६४२ के बीच मे होनी चाहिये। कुछ ऐतिहासज्ञो का कथन है कि जिन सूरदास को अबुलफ़ज़ल ने पत्र लिखा था, वे सूरसागर के रचयिता सूरदास नहीं थे। वे कोई दूसरे सूरदास रहे होंगे, जो काशी में वास करते थे। जो हो, अभी यह समस्या हल नही हो पाई है। राधाकृष्णदास ने लिखा है कि मुझे सूरदास के ८० वर्ष तक जीवित रहने का पक्का प्रमाण मिला है।* वह प्रमाण क्या है, यह वे लिख नहीं पाये; पर

---

*श्रीराधाकृष्णदास द्वारा सम्पादित श्रीसूरसागर मे श्रीसूरदास जी का जीवन-चरित्र पृ० १।

उस प्रमाण के आधार से हम सूरदास का मृत्यु-संवत् (१५४०+८०)=१६२० मान सकते है। यह संवत् विट्ठलनाथ की मृत्यु के पहिले ही पड़ता है, हमें इसके मान लेने में कोई आपत्ति नही हो सकती। अतएव अनुमान से हम सूरदास का जन्म-संवत् १५४० और मृत्यु-संवत् १६२० मान सकते हैं, पर जब तक हमें कोई प्रामाणिक प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तक नहीं मिल जाती, तब तक हम सदैव इस प्रकार संदेह-सागर में उतराते-डूबते रहेंगे, किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचेंगे।

अब हमें सूरदास की कविता पर विचार करना है।

भाषा के विचार से सूरदास प्रथम कवि है, जिन्होंने भाषा को साहित्यिक रूप दिया है। उस समय की ब्रजभाषा केवल विचार के पारस्परिक आदान-प्रदान ही मे व्यवहृत हुआ करती थी। कुछ गानेवालो के स्वरों मे पाई जाती थी, पर सौष्ठव के विचार से सम्भवतः भाषा पर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया था। महाप्रभु वल्लभाचार्य के पौत्र श्रीगोकुलनाथ ने अपनी चौरासी वैष्णवन की वार्ता और २५२ वैष्णवन की वार्ता में ब्रजभाषा का प्रयोग अवश्य किया है, पर वह ब्रजभाषा का बहुत साधारण स्वरूप है, जिसमे साहित्यिक छटा का अभाव है। उसका कारण यही था कि गोकुलनाथ 'पुष्टि मार्ग' का प्रतिपादन कर रहे थे। वे यह चाहते थे कि धर्म का जितनी सरलता से प्रचार हो सके, उतना ही अच्छा है। धर्म का प्रतिपादन ऐसी भाषा मे होना चाहिये, जो सरलता से प्रत्येक की समझ में आ सके। ऐसी परिस्थिति में

उनकी भाषा में सरलता का साम्राज्य होना आवश्यक था और ऐसा हुआ भी है। अतः उन्होंने साहित्यिक सौन्दर्य के विचार से अपनी 'वार्ताएँ' नही लिखीं। बस, धर्म के प्रचार की दृष्टि से ही लिखी हैं। ऐसी स्थिति मे हम उन्हें साधारण भाषा लिखने अथवा साहित्यिक सहृदयता से शून्य होने का दोष नही लगा सकते। उस समय की ब्रजभाषा का उदाहरण इस प्रकार है :—

* तब नारायणदास को बंदीखाने में ते बुलाये सो बुलाय कै पात्साह के पास ठाडो कीयौ तब नारायणदास ते पात्साह ने पूछौ जो नारायणदास आज थैली क्यों नाही आई पाछे थोड़ो सो गाढ़ो कोरड़ा करिकें कोरड़ावारो बुलायो और पातसाह ने पाँच सौ कोरड़ा को हुक्म दीयौ और पात्साह बोल्यौ जो नारायणदास साँच कहि जो आज थैली क्यौ नाही आई द्वारपाल ने तौ मुहर छाप करिके तेरे हवाले कीनी और तेने यह कहा कीयौ तू साँच कहि नाही तो कोरड़ा लागत है।

इसी समय सूरदास ने अपने गीतिकाव्य में जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह संस्कृत-मिश्रित साहित्यिक है। गोकुलनाथ और सूरदास की भाषा में वही अन्तर है, जो मलिक मुहम्मद जायसी और तुलसीदास की भाषा में है। जिस प्रकार गोकुलनाथ की ब्रजभाषा गँवारू और सूरदास की साहित्यिक है, उसी प्रकार मलिक मुहम्मद की भाषा गँवारू अवधी और तुलसीदास की साहित्यिक अवधी है। सूरदास ने यद्यपि गँवारू शब्दों का भी

* चौरासी वैष्णवन की वार्ता पृष्ठ २२८।

प्रयोग किया है * पर अन्ततः उनकी भाषा से साहित्यिक सुगंधि निकलती है । उनके लिखने का ढंग पांडित्यपूर्ण और साहित्यिक है।

सूरदास ने विशेषतः शृंगार और शान्त रस का वर्णन किया है। शान्त रस का वर्णन तो वे उस समय तक विशेष रूप से करते रहे, जब तक कि वल्लभाचार्य ने सूरदास के गाने सुनकर यह नहीं कहा—"जो सूर है कें ऐसो घिघियात काहे को है कछू भगवल्लीला वर्णन करि।" वल्लभाचार्य से दीक्षित होने पर उन्होंने श्रीकृष्ण-लीला गाई । श्रीकृष्ण-लीला-वर्णन में उन्होंने शृंगार रस के वियोग पक्ष पर अधिक दृष्टि डाली और उसी भावोन्माद में गोपियों का विरह-वर्णन साहित्य-संसार में उत्कृष्टता को पहुँचा दिया। संयोग शृंगार में भी सूरदास ने हृदय के भावों में मादकता भर दी है, श्रीकृष्ण के प्रति माता यशोदा की प्रेम-भावना का मनोमोहक चित्र खींच दिया है। किस प्रकार माता यशोदा श्रीकृष्ण को पालने में झुलाती हुई "जोइ सोई"—कभी यह कभी वह—जो कुछ मुँह में आया, वही गा रही है। किस प्रकार नींद से विनती करती है 'आकर मेरे कान्ह को सुला जा, वह तुझे बुला रहा है।' नींद पर क्रुद्ध सी होकर "तू काहे न बेगि सी आवै" कह कर ज़ोर दे रही है। कभी यशोदा ईश्वर से बिनती करती है कि वह कौन सा दिन होगा जब मेरा लाल 'घुटुरुवनि' चलेगा। सोचती है :—

* लरिक सलोरी, लँगरई, माट, पाछपद, पतूखी, छाक।

कबहि दँतुली द्वै दूध की देखौं इन नैननि ।
कबहिं कमल मुख वोलिहैं सुनिहौं इन वैननि ॥
मेरो नान्हरिया गोपाल, वेगि वड़ो किन होहि ।
इहि मुख मधुरे बयन हो, कब 'जननि' कहोगे मोहि ॥

दूसरी ओर श्रीकृष्ण भी कितनी सुन्दर क्रीड़ा करते हैं। "हरि किलकत जसुदा की कनियाँ" में एक शिशु का उल्लास-पूर्ण रूप अंकित है। श्रीकृष्ण के कुछ बड़े होने पर यशोदा का मन कितना पुलकित होता है! उसकी वाल-लीला देखकर यशोदा कितना सुख पाती है!

चलत देखि जसुमति सुख पावै ।
ठुमुकु ठुमुकु धरनीधर रेंगत जननिहि खेल दिखावै ॥
देहरी लौं चलि जात बहुरि फिरि फिरि इतही को आवै ।
गिरि गिरि परत बनत नहि नाँघत सुर मुनि सोच करावै ॥

बालक का देहरी तक जाकर पार करने की शक्ति न होने पर वार वार लौटना कितना सूक्ष्म निरीक्षण है! जिसे कवि ने एक बार ही कह दिया है। उसी प्रकार बच्चे को नहलाने में माँ को कितनी कठिनता होती है। यह इस गीत मे कितनी सुन्दरता से वर्णित है :—

जसुमति जबहिं कह्यो अन्हवावन रोइ गए हरि लोटत री ।
लेत उबटनो आगे दधि कहि लालहिं चोटत पोटत री ॥
मैं बलि जाउँ न्हाउ जिनि मोहन कत रोवत बिन काजै री ।
पाछै धरि राखौ छपाइ कै उबटन तेल समाजै री ॥

सहरि बहुत बिनती करि राखत मानत नहीं कन्हाई री।
सूरस्याम अति ही विरुझाने मुनि सुनि अंत न पाई री॥

उसी प्रकार बच्चे का नाराज़ होना भी कितना स्वाभाविक है।

खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहि मोहि देखत लरिकन सग तबहि खिझत बल भैया॥

गोपियों का दही बालक कृष्ण चुरा कर घर में भाग कर छिप गया है। वे यशोदा से शिकायत करने के लिये आई हैं। यह शिकायत कितनी स्वाभाविक है!

जसोदा कहाँ लौं कीजै कानि।
दिन प्रति कैसे सही परति है दूध दही की हानि॥
अपने या बालक की करनी जो तुम देखो आनि।
गोरस खाइ ढूँढ़ि सब बासन भली करी यह बानि॥
मैं अपने मंदिर के कोने माखन राख्यो जानि।
सोई जाइ तुम्हारे लरिका लीनो है पहिचानि॥
बूझी ग्वालिनि घर मे आयो नेकु न संका मानी।
सूरस्याम तब उतर बनायो चींटी काढ़तु पानी॥

ये तो संयोग श्रृंगार के चित्र हुए अब वियोग श्रृंगार के चित्र देखिये। सूरदास ने मानवहृदय के भीतर धँसकर वियोग और करुणा के जितने भाव हो सकते है, उन्हें अपनी कुशल लेखिनी से ऐसे अंकित कर दिये है कि वे अमर हो गये है। प्रत्येक भाव में ऐसी स्पष्टता है, मानो हम उन्हें स्वयं अनुभव कर रहे हैं। किसी भाव मे आह की ज्वाला है, किसी में वेदना के आँसू और

किसी मे विदग्धता का कम्पन। हृदय की भावना अनेक रूप से रोती है। भाव को अनेक वार आँसुओं की धारा भिगोती है। एक ही भावना का अनेकों वार चित्रण होता है—नये नये रंगों से—और उनमें हृदय को व्यथित करने की शक्ति बराबर बढ़ती जाती है। ऐसा ज्ञात होता है मानो प्रत्येक पद एक गोपी है, जिसमे वियोग की भीषण अग्नि धधक रही है। प्रत्येक पद मे वेदना हिलोरें लेती है, जो किसी भी सहृदय को रुलाने की क्षमता रखती है :—

निशिदिन वरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर जब ते स्याम सिधारे॥

गोपियाँ अपनी वेदना के स्वरों मे श्रीकृष्ण से लौटने की प्रार्थना करती है :—

फिर व्रज वसहु गोकुलनाथ।
बहुरि न तुमहिं जगाय पठावौं गोधनन के साथ॥
वरजौं न माखन खात कवहूँ दैहौं देन लुटाय।
कवहूँ न दैहौं उराहनो जसुमति के आगे जाय॥
दौरि दाम न देउँगी, लकुटी न जसुमति पानि।
चोरी न देहुँ उघारि, किए औगुन न कहिहौं मानि॥

श्रीकृष्ण की भक्ति में सूरदास ने अपना माथा झुका दिया है। उन्होने उन्हें अपना आराध्य देव मान कर अच्छे अच्छे गीतों मे उनकी सौन्दर्य-सीमा पार की है। सूरदास की कविता में चित्राङ्कन का एक वड़ा भारी गुण है और उसी

गुण के सहारे वे विश्वकवि के आसन पर आसीन हो सके हैं। कृष्ण ही उनके सब कुछ हैं और यही उन्होंने वल्लभाचार्य से सीखा था। उन्होंने दासभाव से नहीं, वरन् सख्य भाव से उपासना की थी। अर्थात् वे श्रीकृष्ण को भगवान का अवतार मानते हुए भी अपना मित्र समझते थे। वे सदैव श्रीकृष्ण के सामने सिर झुका कर उनकी आराधना नहीं करते थे। वे उनके भक्त अवश्य थे; पर मित्रता के नाते। तुलसीदास की भाँति उन्होंने आराध्य को अपना ऐसा स्वामी नहीं समझा, जिसके अवगुण भी गुण के रूप में दृष्टिगोचर हों। जो कुछ स्वामी करे वही ठीक, शेष सब व्यर्थ। ये बातें सूर के स्वभाव के विपरीत थीं। यदि कृष्ण ने अनुचित काम किया तो सूर ने उसी समय उनकी निन्दा कर डाली—'कारो कृतहि न मानें' और यदि कृष्ण ने उचित कार्य किया तो उसी समय लिख दिया—

'सूरश्याम सुन्दर बहुनायक सुखदायक सबहिन के'

इस प्रकार सूर ने कृष्ण की सख्य भाव से उपासना की है।

कृष्ण और राधा का सहारा लेकर सूर ने शृंगार रस पर अपनी शक्तिशालिनी लेखनी उठाई है। इस शृंगार में यद्यपि रस का पूर्ण परिपाक हुआ है तथापि अश्लीलता का अंश नहीं आने पाया। राधा और कृष्ण का शृंगार-वर्णन पढ़ते हुए भी हमें यह ध्यान रहता है कि कृष्ण और राधा हमारे आराध्य हैं। आलम्बन विभाव के नायक नायिका राधा कृष्ण ईश्वरीय शक्तियों से विभूषित हैं। वे सामान्य स्त्री-पुरुष के विचारों को प्रकट करते हुए भ

दिव्य विभूतियों से युक्त है। सूर ने पवित्र शृंगार की झाँकी दिखलाई है। यद्यपि कृष्ण राधा और गोपिकाओं के साथ विहार करते हैं; पर उनका व्यक्तित्व सदैव उच्चतर और पवित्र चित्रित किया गया है।

बिहरत हैं जमुना जल श्याम।
राजत हैं दोउ बाँहाँ जोरी दंपति अस ब्रजवाम॥
कोउ ठाढ़ी जल ज्ञानु जघ लो कोउ कटि हिरदै ग्रीव।
यह सुख वरणि सकै ऐसो को सुन्दरता की सींव॥
श्याम अग चंदन को आभा नागरि केसरि अग।
मलयज पंक कुमकुमा मिलि कै जल यमुना इक रग॥
निशि श्रम मिट्यो मिट्यो तनु आलस परसि यमुन भई पावन।
सूरश्याम जल मध्य युवतिगन जन जन के मनभावन॥

जहाँ कहीं भी उहोंने कुच आदि का वर्णन किया है, वहाँ उन्होंने उसमें वासना की भावना का सदैव तिरस्कार किया है। विद्यापति की भाँति उन्होंने 'सहइ न पार पयोधर हाथ' अथवा 'विघटल नीवी कर धर जोति' की भावनाओ से अपनी कविता को कलुषित नहीं किया है। उन्होंने सदैव उस वर्णन मे या तो आध्यात्मिक अभिव्यक्ति देखी है अथवा उसमें अलंकार का निरूपण किया है। उन्होंने कुचादि को वासना का केन्द्र-स्थल न मान कर सौन्दर्य का मनोहर स्थान माना है। वह स्थान उसी प्रकार सुन्दर और सुखप्रद है, जिस प्रकार मुख अथवा हाथ। इसीलिये शृंगार में डूबी हुई उनकी कविता पवित्र है और फलतः ईश्वर से विनय करने का महान साधन।

यमुना जल क्रीड़त है नँदनन्दन।
गोपी वृन्द मनोहर चहुँ दिशि मध्य अरिष्ट निकंदन ॥
पकरे पाणि परस्पर छिरकत सिथिल सलिल शुज चन्दन ।
मानो युवति पूजि अहिपति को लग्यो अंक दै बंदन ॥
कुच भरि कुटिल सुदेश अंबुकनि युवति अग्रगति मन्दन ।
मानहु भरि गडूप कमल ते डारत अलि आनन्दन ॥
भुज भरि अंक अगाध चलत लै ज्यों लुब्धक खग फन्दन ।
सूरदास प्रभु सुयश बखानत नेति नेति श्रुति छंदन ॥

यहाँ कुच-वर्णन में अलंकार का कितना सुन्दर रूप उतरा है। सारे पद को पढ़ जाने पर हमारे हृदय में वासना की थोड़ी सी भावना भी जाग्रत नही होती, हमारा मन श्रीकृष्ण की ओर ही बड़ी उमंग से दौड़ा चला जाता है। सूरदास के शृंगार में यही सौन्दर्य है। वासना की सामग्री नेत्र के सामने वे रखते अवश्य हैं; पर इतनी सुन्दरता के साथ कि हृदय उसके रूप पर ही मुग्ध होकर वासना का तिरस्कार कर देता है। उस रूप पर हृदय इतना मस्त हो जाता है कि उसे वासना की ओर जाने का अवकाश ही नहीं मिलता। यह कला का कितना आदर्श रूप है! सूरदास की उत्कृष्ट प्रतिभा का कितना सुन्दर नमूना है! यह बात सूरदास के परिवर्ती कवियों में नहीं रहने पाई। उन्होंने तो राधाकृष्ण को साधारण नायक नायिका बना डाला है। राधा से अभिसार कराया है। उसे विरहिणी बना कर वासना की अग्नि में जलाया है। उसे पलंग पर लिटाया है और स्वप्न मे

कृष्ण से मिलाया है। जागने पर 'परी गयो गिर हाथ को हीरो' कहला कर शोक भी दिखलाया है। वासना का इतना नग्न चित्र खींचा गया है कि उसके सामने राधाकृष्ण का अलौकिक सौन्दर्य सम्पूर्ण नष्ट हो गया है। उनमें आध्यात्मिक तत्व का पता ही नहीं मिलता। वे काम से पीड़ित नायक नायिका बनकर सेज सजाते हैं, आँसू बहाते हैं। विरह में दो हाथ ऊँची आग की लपट अपने शरीर से निकालते हैं और अपनी सखी से कहलाते हैं :—

वाके तन ताप की कहौं मैं कहा बात,
मेरे गात ही छुये ते तुम्हे ताप चढ़ि आवैगी।*

सूर ने जो शृंगार लिखा है, उसकी एक बूँद भी ये बेचारे कवि नहीं पा सके हैं। जिस प्रकार दीपक की शिखा से काजल निकलता है, उसी प्रकार दुर्भाग्य से सूर के उज्ज्वल और तेजोमय पवित्र शृंगार से अट्ठारहवीं और उन्नीसवी शताब्दी का कलुषित शृंगार प्रादुर्भूत हुआ। भागीरथी का पतन खारे समुद्र में हुआ। अस्तु हमें तो इस समय यही देखना है कि शृंगार की धारा में बहते हुए भी सूर ने अपने वस्त्रों को यथास्थान सुरक्षित कर अपने को लज्जा-हीन होने से बचाया है।

सूरदास की कविता का प्रथम गुण है माधुर्य। उन्होंने अपने पद ब्रजभाषा में लिखे हैं। एक तो ब्रजभाषा स्वभावतः ही मधुर है, फिर उसमे सूर की पदयोजना ने तो माधुर्य की मूर्ति ही लाकर

---

* पदमाकर।

खड़ी कर दी है। संगीत की धारा इतनी सुकुमार चाल से चलती है कि हमें यह ज्ञात होने लगता है कि हम स्वर्ग के किसी पवित्र भाग में मंदाकिनी की हिलती हुई लहरों का स्पर्श अनुभव कर रहे हैं। शब्दावली इतनी मधुर, हृदयग्राहिणी और स्वाभाविक है कि हृदय उस पर ताल देकर नाचने लगता है। सूरदास तो स्वभावतः ही उत्कृष्ट गायनाचार्य थे। इस कारण उन्होंने जितने पद लिखे है, उनमें संगीत की ध्वनि इतनी सुमधुर रीति से समाई है कि वे पद संगीत के जीते-जागते अवतार से हो गये हैं। कोमलता ने प्रत्येक शब्द मे वास कर लिया है। प्रत्येक शब्द कंठ से निकलता हुआ-सा जान पड़ता है। प्रत्येक पद मानो ताल दे दे कर कृष्ण का चरित्र गा रहा है।

बिलावल

जागहु जागहु नन्दकुमार।
रवि बहु चढ़े रैनि सब निघटी उघरे सकल किवार ॥
वारि वारि जल पियति यशोदा उठु मेरे प्रान अधार।
घर घर गोपी दह्यो बिलोवहि कर कंकन झनकार ॥
साँझ दुहुन तुम कह्यो गाइ को ताते होत अबार।
सूरदास प्रभु उठे सुनत ही, लीला अगम अपार ॥

इसी माधुर्य के कारण सूरदास ने हिन्दी के गीतिकाव्य में अपनी उपमा नहीं रक्खी है। उनके पदों में संगीत का संसार अपनी सारी विभूतियों के साथ समाया हुआ है। माधुर्य और संगीत की यह गंगा-जमुनी हृदय की आग को सदैव के लिये शीतल कर देती है।

सूरदास की कविता में महत्व की एक बात और है। उसमें हम विश्वव्यापी राग सुनते हैं। वह राग मनुष्य-हृदय का सूक्ष्म उद्गार है। उसी राग में मानव जाति की सभी वृत्तियाँ अन्तर्हित हैं। उनके फूल में काँटे हैं—तो वे काँटे भी फूल की शोभा बढ़ाते हैं। उनके सोने में सुगंधि है तो वह सुगंधि भी सोने का महत्त्व बढ़ाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी कविता में मनुष्य के सुख दुख का तार सदैव हिला करता है। उनकी कविता मनुष्य जाति के स्वरों में हँसती है और उसी के स्वरों में रोती है। बाल कृष्ण के शैशव में, श्रीकृष्ण के मचलने मे, माँ यशोदा के दुलार में हम विश्वव्यापी माता-पुत्र-प्रेम देखते हैं :—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसो कहत मोल को लीनो, तू जसमति कब जायो॥
कहा कहो यहि रिस के मारे, हो खेलन नहि जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुमरो तात॥
गोरे नन्द, यशोदा गोरी, तुम कत श्याम शरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि यशुमति पुनि पुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जन्महि ही को धूत।
सूरश्याम मोहि गोधन की सौं, हौ माता तू पूत॥

गोपियो के विलाप और क्रन्दन में हम मनुष्य जाति के अन्तरतम करुणा भाव की व्यंजना पाते हैं :—

दमन

नाथ अनाथन की सुधि लीजै ।
गोपी, गाइ, ग्वाल, गोसुत सब दीन मलीन दिनहि दिन छीजै ॥
नैन सजल धारा बाढ़ी अति बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै ।
इतनी विनती सुनहु हमारी बारक हू पतियाँ लिखि दीजै ॥
चरण कमल दरशन नव नौका, करुणासिन्धु जगत यश लीजै ।
सूरदास प्रभु आस मिलन की, एक बार आवन ब्रज कीजै ॥

गोपियों के व्यंगों में हम जीवन के स्वाभाविक व्यंगों की स्पष्ट झलक पाते हैं :—

कोन बात यह कहत कन्हाई ।
समुझति नहीं कहा तुम मांगत डरपावत, करि नंद दोहाई ॥
डरपावहु तिनको जे डरपहि तुमते घटि हम नाही ।
मारग छोड़ि देहु मनमोहन दधि वेचन हम जाहीं ॥
भली करी मोतिन लर तोरी यशुमति सो हम लैहैं ।
सूरदास प्रभु इहौ बनत नहि इतनो धन कहा पैहै ॥

इन्हीं विश्वव्यापी वृत्तियों के कारण सूर का काव्य विश्वकाव्य की गिनती में आ सकता है ।

सूरदास के कहने का ढंग भी बहुत सुन्दर है । जो बात ये कहते हैं, वह इतनी सुन्दरता के साथ कि उसके आगे कहने को कुछ भी नहीं रह जाता । जो कुछ वे कहते हैं, वही उसके कहने की इति है । वियोग-शृंगार में गोपियों ने ऊधो से जो कुछ कहा है, वह वाक्-चातुर्य का उत्कृष्ट नमूना है ।

कहियो यशुमति की आशीस ।
जहाँ रहो तहाँ नन्द लाड़ले जीवो कोटि वरीस ॥
मुरली दई दोहनी घृत भरि ऊधो धरि लई सीस ।
इहि घृत तौ उनकी सुरभिन को जो प्यारी जगदीस ॥
ऊधो चलत सखा मिलि आये ग्वाल बाल दस बीस ।
अब के इहाँ व्रज फेरि बसाओ, सूरदास के ईस ॥

यह तो वर्णन का ढंग है । व्यञ्जना देखिये :—

ऊधो यह मन ओर न होई ।
पहिले ही चढ़ि रह्यो श्याम रंग छुटत न देख्यो धोई ।
कै तुम वचन बड़े अलि हमसों सोई कहो जो मूल ॥
करत केलि वृन्दावन कुंजन वा जमुना के कूल ।
जोग हमहि ऐसो लागत ज्यों तो चपे को फूल ॥
अब क्यों मिटत हाथ की रेखे, कहो कौन विधि कीजै ।
सूरश्याम मुख आनि देखावहु जेहि देखे दिन जीजै ॥

सूरदास का काव्यज्ञान भी बहुत ऊँचा है । इतने सुन्दर अलंकारों का प्रयोग साहित्य में बहुत कम है । अलंकारों का कार्य तो यह है कि वे भावों का रूप स्पष्ट कर दें और उनमें शक्ति भर दें । ये दोनों कार्य सूरदास के अलंकारों से भली भाँति हो जाते हैं । उनके अलंकारों से यह स्पष्ट हो जाता था कि उनकी दृष्टि (वह चाहे अन्तर्दृष्टि हो) बहुत तीक्ष्ण थी । उनका अन्तिम पद ही लीजिये ।

खंजन नैन रूप रस माते
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते ।

चलि चलि जात निकट श्रवननि के उलटि पलटि ताटक फँदाते ॥
सूरदास अंजन गुन अटके नातरु अब उड़ि जाते ।

इसमें नेत्र रूपी खंजन का अञ्जन रूपी गुन (रस्सी) से अटकना कितना सौन्दर्य-पूर्ण है ।

सूरदास की कविता अनेक गुणों से विभूषित है, जिन पर इस छोटे से स्थान पर प्रकाश डालना अत्यन्त कठिन है; पर यह निर्विवाद सत्य है कि उनका काव्य संसार के उत्कृष्ट काव्यों में अवश्य स्थान पायेगा और उनके काव्य-सौन्दर्य का इन्द्रधनुप साहित्य-संसार के आकाश में एक छोर से दूसरे छोर तक सदैव सज्जित रहेगा ।

सोरठ

मेरो अति प्यारो नंदनन्द ।
आये कहां छांड़ि तुम उनको पोच करी अति मन्द ॥
बल मोहन दोउ पीर नयन की निरखत ही आनन्द ।
सरवर घोष कुमोदिनि ब्रज जन श्याम वदन बिन चन्द ॥
काहे न पांइ परे वसुदेव के घालि पाग गरे फन्द ।
सूरदास प्रभु अबके पठवहु सकल लोक मुनिवृन्द ॥

ईमन

नाथ अनाथन की सुधि लीजै ।
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत सब दीन मलीन दिनहिं दिन छीजै ॥
नैन सजल धारा बाढ़ी अति बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै ।
इतनी बिनती सुनहु हमारी बारक हू पतियां लिखि दीजै ॥
चरण कमल दरशन नव नौका करुणासिंधु जगत यश लीजै ।
सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै ॥

नट

जमुना जल विहरति ब्रजनारी ।
तट ठाढ़े देखत नंद नंदन मधुर मुरलि कर धारी ॥
मोर मुकुट श्रवणन मणि कुंडल जलज माल उर भ्राजत ।
सुंदर सुभग श्याम तनु नव घन विच बग पांति विराजत ॥
उर बनमाल सुभग बहु भांतन श्वेत लाल सित पीत ।
मनो सूर सरि तट बैठे शुक वरनत वरन जिभीत ॥
पीतांबर कटि में छुद्रावलि बाजत परम रसाल ।
सूरदास मनो कनक भूमि ढिग बोलत रुचिर मराल ॥

केदारी

बिनती करत सकल अहीर ।
सकल भरि भरि ग्वाल लै लै सिखर डारत छीर ॥
चल्यौ बहि चहुं पास ते पय सुरसरी जल टारि ।
बसन भूषन लै चढ़ाये भीर अति नर नारि ॥
मूंदि लोचन भोग अर्प्यो प्रेम सो रुचि भारि ।
सबनि देखी प्रगट सूरति सहस भुजा पसारि ॥
रुचि सहित गिरि सबनि आगे करनि लै लै खाइ ।
नदसुत महिमा अगोचर सूर क्यो कहै गाइ ॥

गूढ़ी

मैं बलि जाउं श्याम मुख छवि पर ।
बलि बलि जाउं कुटिल कच विथुरी बलि बलि जाऊं भृकुटि ललाट पर ॥
बलि बलि जाउं चारु अवलोकनि बलिहारी कुंडल की ।
बलि बलि जाउं नासिका सुललित बलिहारी वा छवि की ॥
बलि बलि जाउं अरुन अधरन की विद्रुम विंब लजावन ।
मैं बलि जाउं दशन चमकन की वारौ तड़ित नसावन ॥
मैं बलि जाउं ललित ठोड़ी पर बलि मोतिन की माल ।
सूर निरखि तन मन बलिहारी बलि बलि यशुमति लाल ॥

आसावरी

सखी री हरि को दोष जनि देहु ।
ताते मन इतनो दुख पावत मेरोई कपट सनेहु ॥
विद्यमान अपने इन नैननि सूनो देखति गेहु ।
तदपि सखी ब्रजनाथ बिना उर फटि न होत बड़ वेहु ॥
कहि कहि कथा पुरातन सजनी अब जिन अंतहि लेहु ।
सूरदास तन योग करौगी ज्यो फिरि फागुन मेहु ॥

बिलावल

सुनहु महरि तेरो लाड़िलो अति करत अचगरी।
यमुन भरन जल हम गई तहां रोकत डगरी॥
सिर ते नीर ढराय देत फोरि सब गगरी।
गेडुरि दई फटकारि कै हरि करत है लंगरी॥
नित प्रति ऐसई ढंग करै हमसो कहै धगरी।
अब बस वास नहीं बनै यहि तुव ब्रज नगरी॥
आपु गयी चढ़ि कदम ही चितवत रहि सगरी।
सूरश्याम ऐसई सदा हम सों करै झगरी॥

धनाश्री

यशोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै ॥
मेरे लाल को आउ निदरिया काहे न आनि सुवावै ।
तू काहे न वेगी सी आवै तोको कान्ह बुलावै ॥
कबहुं पलक हरि मूंद लेत हैं कवहुं अधर फरकावै ।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहो करकरि सैन बतावै ॥
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि यशुमति मधुरै गावै ।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नंदभामिनी पावै ॥

कामोद

नयो नेहु नयो गेहु नयो रस नवल कुवरि वृषभानु किशोरी ।
नयो पीतांबर नई चुनरी नई नई बूदनि भीजति गोरी ॥
नये कुंज अति पुंज नये द्रुम सुभग यमुन जल पवन हिलोरी ।
सूरदास प्रभु नव रस बिलसत नवल राधिका यौवन भोरी ॥

टोड़ी

खेलन हरि निकले ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीतांबर ओढ़े हाथ लिये भौंरा चक डोरी ॥
मोर मुकुट कुंडल श्रवणन वर दशन दमक दामिनि छबि थोरी।
गये श्याम रवितनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी ॥
औचक ही देखी तहं राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठि रुचिर झकझोरी ॥
संग लरकिनी चलि इत आवति दिन थोरी नवछवि जन गोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी ॥

सारंग

जब हरि मुरली अधर धरत ।
खग मोहे मृग यूथ भुलाने निरखि मदन छवि छरत ॥
पशु मोहे सुरभीहु थकीं तृण दंतहि टेक धरत ।
शुक सनकादि सकल मन मोहे ध्यानिउ ध्यान बहत ॥
सूरदास भाग्य है तिनके जो या सुखहिं लहत ।

बिहागरा

कहौ कहा अंगन की सुधि बिसरि गई ।
श्याम अधर मृदु सुनत मुरलिका चकृत नारि भई ॥
जो जैसे सो तैसे रहि गई सुख दुख कह्यो न जाई ।
लिखी चित्र सी सूर सो रहि गई एकटक पल बिसराई ॥

कल्याण

वन विशाल हरि लोचन लोल ।
चितै चितै हरि चारु विलोकनि मानहुं मांगत हैं मन ओल ॥
अधर अनूप नासिका सुन्दर कुंडल कलित सुदेश कपोल ।
मुख मुसकात महाछवि लागत श्रवण सुनत सुठि मीठे बोल ॥
चितवत रहत चकोर चंद्र ज्यों नेक न पलक लगावत डोल ।
सूरदास प्रभु के वश ऐसे दासी सकल भई विन मोल ॥

हमीर

घट भर दियो श्याम उठाइ ।
नेक तन की सुधि न ताको चली व्रज समुहाइ ॥
श्याम सुन्दर नयन भीतर रहे आनि समाइ ।
जहां तहां भरि दृष्टि देखा तहां तहां कन्हाइ ॥
उतहिंत एक सखी आई कहति कहा भुलाइ ।
सूर अबही हसत आई चली कहा गवाइ ॥

वसंत

खेलत नन्द किशोर किशोरी ।
नन्दनंदन वृषभानुसुता चित लेत परस्पर चोरी ॥
औरौ सखी जाल बिन शोभित सकल ललित तनु गावति होरी ।
तिनको नख शोभा देखत ही तरनि नाथ हू की मति मोरी ॥
एक गोपाल अबीर लिये कर एक चन्दन एक कुंकुमा रोरी ।
उपरा उपरि छिरकि रस सरि भरि बहु कुल क्रीड़ा परमिति फोरी ॥
देति अशीष सकल ब्रज युवती युग युग अविचर जोरी ।
सूरदास उपमा नहिं सूझत जो कछु कहो सु थोरी ॥

जैतश्री

हरि सो प्रीतम क्यो विसराहि ।
मिलन दूरि मन वसत चन्द्र पर थित चकोर पछताहि ॥
जल मे रहहि जलहि ते उपजहि जलही विन कुंभलाहि ।
जल तजि हस चुगै मुक्ताफल मीन कहा उड़ि जाहि ॥
सोइ गोकुल गोवर्धन सोई सोइ किन कराहि अव छाहि ।
प्रगट न प्रीति करै परदेसी सुख केहि देस समाहि ॥
धरणी दुखित देखि वादर अति वर्षा ऋतु वरपाहि ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन विन दुख क्यों हृदय समाहि ॥



कबीर

भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम करि गायो।
जोग जग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी शबदी साखी।
पक्षपात नहि बचन सबहि के हित की भाखी॥
आरूढ़ दशा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नही वर्णाश्रम षट दरशनी॥

—नाभादास (भक्तमाल)

कबीर

हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि करनेवाले कबीर का जीवन-वृत्त अभी तक अंधकार में है, उसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया। कबीर एक मत के प्रवर्तक थे, इसलिये उनके अनुयायी अभी तक वर्तमान हैं और उन्हीं के द्वारा कुछ ज्ञातव्य बातों का पता लगता है। इधर कुछ विद्वानों ने भी अनुमान पर उनके आविर्भाव-काल एवं जीवन पर प्रकाश डाला है, पर कहा नहीं जा सकता कि वह कहाँ तक प्रामाणिक है।

मेक्स आर्थर मैकलिफ़* ने कबीर का जन्म ज्येष्ठ संवत् १४५५ विक्रमी दिया है। यह तिथि उन्होंने कदाचित् कबीर-चरित्र-बोध के १७६० पृष्ठ से ली है, जहाँ लिखा है :—

"कबीर साहिब का काशी में प्रकट होना।

संवत् चौदह सौ पचपन विक्रमी ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोम्वार के दिन सत्यपुरुष का तेज काशी के लहर तालाब में उतरा—उस समय पृथ्वी और आकाश प्रकाशित हो गया।"

कबीर पंथियों में एक दोहा प्रचलित है :—

चौदह सै पचपन साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ ठये।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भये॥

---

* The Sikh Religion Vol VI

इसी के अनुसार कबीर-पंथी लोग १४५५ को कबीर का जन्म सम्वत् मानते हैं, पर ज्योतिष की गणना करने से चन्द्र-वार को जेष्ठ शुक्ल पूर्णिमा नहीं पड़ती। यदि 'गये' शब्द को हम व्यतीत के अर्थ में मान लें, अर्थात् १४५५ साल के व्यतीत होने पर ज्येष्ठ मास में चन्द्रवार को कबीर उत्पन्न हुए तो यह बात ज्योतिष के अनुसार भी मानी जा सकती है, क्योंकि गणना से सं० १४५६ में चन्द्रवार को ही ज्येष्ठ पूर्णिमा पड़ती है। अतएव जब तक हमें और कोई निश्चित तिथि न मिले तब तक हम कबीर का जन्म-सम्वत् १४५६ ही मानेंगे।

कबीर की मृत्यु के विषय में यह दोहा कबीर-पंथी लोग कहते हैं :—

सम्वत् पन्द्रह सै पछत्तरा कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी रलो पवन मे पवन ॥

अर्थात् सम्वत् १५७५ में मगहर में कबीर का देहान्त हुआ। वेसकट के अनुसार कबीर की मृत्यु-तिथि १५६४ है*।

कबीर की 'बानी' से ज्ञात होता है कि वे सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। उसने उन पर अत्याचार भी किये थे। सिकन्दर लोदी का राज्य सन् १४८६ ई० (सम्वत् १५४६) से सन् १५१७ ई० (सम्वत् १५७४) तक रहा था। इसलिये कबीर का सम्वत् १५७४ तक रहना निश्चित है। उनकी मृत्यु-तिथि संवत् १५७४ के बाद ही समझनी चाहिये। यदि उनकी मृत्यु सम्वत् १५७५ में हो

*Kabir and the Kabir Panth, Page 26, by G H Westcott

गई हो तो कोई अयुक्ति-सङ्गत बात नहीं है। जो हो, अभी तक कबीर के जन्म और मृत्यु की तिथियाँ अनुमान पर ही निर्भर हैं। जन्म-तिथि सम्वत् १४५६ है और मृत्यु-तिथि सम्वत् १५७५ है। इसके अनुसार कबीर ११६ वर्ष जीते रहे।

किंवदंती है कि कबीर की माता एक ब्राह्मण की विधवा कन्या थी। कन्या का पिता काशी में रामानन्द का बड़ा भक्त था। एक दिन वह अपनी कन्या के सहित रामानन्द के दर्शन करने गया। कन्या ने भी रामानन्द को प्रणाम किया। उत्तर में उन्होंने उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। ब्राह्मण ने व्यथित होकर अपनी पुत्री की वैधव्य-कथा कह दी। रामानन्द ने कहा, "मेरा कथन मिथ्या तो हो नहीं सकता। तुम्हारी कन्या के पुत्र होगा, पर वह कलंक-रहित रहेगी।" आशीर्वाद फलीभूत हुआ और कुछ दिवसों के पश्चात् कन्या ने एक पुत्र को जन्म दिया। लोकापवाद के डर से उसने उसे लहर तालाब के समीप छोड़ दिया। उसी समय एक जुलाहा, जिसका नाम नीरू था अपनी नव-विवाहिता स्त्री नीमा के साथ उधर से गुज़रा। एक नवजात शिशु को देख कर उनके हृदय मे पुत्र-लालसा उत्पन्न हुई और उन्होंने उसे उठा कर अपने घर की राह ली। उसी जुलाहे ने कबीर का पालन-पोषण किया। कबीर जुलाहे के घर में पालित होने के कारण अपने को जुलाहा मानते थे। उन्होने लिखा भी है :—

तै बाम्हन मै कासी का जुलाहा बूझहु मोर गियाना

कुछ कबीर पंथियों का मत है कि वे उस विधवा ब्राह्मण

कन्या की हथेली से उत्पन्न हुए थे इसीलिये वे करबीर (हाथ के पुत्र) या कबीर कहलाये*। अन्य कबीरपंथी तो अलौकिक रीति से उनका पृथ्वी में उत्पन्न होना बतलाते हैं। 'कबीर-चरित्र-बोध' में लिखा है कि† 'सत्पुरुष का तेज काशी के लहर तालाब में उतरा ·· जिस समय वह प्रकाश तालाब में उतरा उस समय समस्त तालाब जगमग-जगमग करने लगा। वह तेज बालक के आकार मे हुआ। उस जल के ऊपर वह कमलों के पुष्पों में उतराने और बालकों के सदृश हाथ-पाँव फेंकने लगा। वह तेज अपनी समस्त प्रभाओं को पृथक् करके मनुष्य के बच्चे के आकार में दिखलाई दिया।'

यह वर्णन तो इतना अलौकिक है कि आजकल शायद कोई भी इस पर विश्वास न कर सकेगा। जो हो, इतना मान्य है कि कबीर लहर तालाब के पास पाये गये थे, जुलाहे द्वारा पालित हुए थे—वे जुलाहे के औरस पुत्र नही थे।

कबीर शिशुपन ही से भगवत्-भक्त थे। वे भजन गाया करते थे और लोगों को उपदेश दिया करते थे पर वे 'निगुरा' (बिना गुरु के) होने के कारण लोगों में आदर के पात्र नही थे और उनके भजनों अथवा उपदेशों को भी कोई सुनना पसंद नही करता था। इस कारण वे अपना गुरु खोजने की चिन्ता मे व्यस्त हुए। उस समय काशी में रामानन्द की बड़ी प्रसिद्धि थी। कबीर उन्हीं के पास गये, पर कबीर के मुसलमान होने के कारण उन्होंने उन्हें अपना

---

* Kabır and the Kabır Panth, Westcott, Page 5

† पृष्ठ १७६०।

शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया। वे हताश तो बहुत हुए। पर उन्होंने एक चाल सोची। प्रातःकाल अंधेरे ही में रामानन्द पंच-गङ्गा घाट पर नित्य स्नान करने के लिये जाते थे। कबीर पहिले ही से उनके रास्ते में घाट की सीढ़ियों पर लेट रहे। रामानन्द जैसे ही स्नानार्थ आये, वैसे ही उनके पैर की ठोकर कबीर के सिर में लगी। ठोकर लगने के साथ ही रामानन्द के मुख से पश्चात्ताप के रूप मे 'राम' 'राम' शब्द निकल पड़ा। कबीर ने उसी समय उनके चरण पकड़ कर कहा कि महाराज, आज से आपने मुझे राम नाम से दीक्षित कर अपना शिष्य बना लिया। आज से आप मेरे गुरु हुए। रामानन्द ने प्रसन्न हो कबीर को हृदय से लगा लिया। उसी समय से कबीर रामानन्द के शिष्य कहलाने लगे। बाबू श्यामसुन्दरदास ने लिखा है*—

"केवल किवदंती के आधार पर रामानन्द को उनका गुरु मान लेना ठीक नहीं। यह किवदंती भी ऐतिहासिक जाँच के सामने ठीक नही ठहरती। रामानन्द जी की मृत्यु अधिक से अधिक देर मे मानने से संवत् १४६७ में हुई, इससे १४ या १५ वर्ष पहले भी उनके होने का प्रणाम विद्यमान है। उस समय कबीर की अवस्था ११ वर्ष की रही होगी, क्योंकि हम ऊपर उनका जन्म १४५६ सिद्ध कर आये है। ११ वर्ष के बालक का घूम फिर कर उपदेश देने लगना सहसा ग्राह्य नहीं होता। और यदि रामानन्द जी की मृत्यु संवत् १४५२-५३ के लगभग हुई

---

* कबीर ग्रन्थावली, भूमिका पृष्ठ २९

तो यह किंवदंती झूठ ठहरती है; क्योंकि उस समय तो कबीर को संसार में आने के लिये अभी तीन-चार वर्ष रहे होंगे।"

बाबू साहिब ने यह नहीं लिखा कि रामानन्द की मृत्यु की तिथि उन्होंने किस प्रामाणिक स्थान से ली है। नाभादास के भक्तमाल की टीका करनेवाले प्रियादास के अनुसार रामानन्द की मृत्यु १५०५ विक्रमी में हुई इसके अनुसार रामानन्द की मृत्यु के समय कबीर की अवस्था ४६ वर्ष की रही होगी। उस अवस्था में या उसके पहिले कबीर क्या कोई भी भक्त घूम-फिर कर उपदेश दे सकता है और रामानन्द का शिष्य बन सकता है? फिर कबीर ने लिखा है:—

काशी मे हम प्रगट भये हैं रामानन्द चिताए।

कुछ विद्वानों का मत है कि शेख़ तक़ी कबीर के गुरु थे,* पर जिस गुरु को कबीर ईश्वर से भी बड़ा मानते थे, उस गुरु शेख़ तक़ी के लिये ऐसा नहीं कह सकते थे:—

घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख।

हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि वे शेख़ तक़ी के सत्सङ्ग मे रहे हों और उनसे उनका पारस्परिक व्यवहार हो।

कबीर का विवाह हुआ था अथवा नहीं, यह सन्देहात्मक है। कहते हैं कि उनकी स्त्री का नाम लोई था। वह एक बनखंडी वैरागी की कन्या थी। उसके घर पर एक रोज़ सन्तों का समा-

---

Kabır and the Kabır Panth—Westcott, Page 25

गम था। कबीर भी वहाँ थे। सब सन्तों को दूध पीने को दिया गया। सबने तो पी लिया, कबीर ने अपना दूध रखा रहने दिया। पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि एक सन्त आ रहा है, उसके लिये यह दूध रख दिया गया है। कुछ देर में एक सन्त उसी कुटी पर पहुँचा। सब लोग कबीर की शक्ति पर मुग्ध हो गये। लोई तो भक्ति से इतनी विह्वल हो गई कि वह उनके साथ रहने लगी। कोई लोई को कबीर की स्त्री कहते हैं, कोई शिष्या। कबीर ने निस्सन्देह लोई को सम्बोधित कर पद लिखे हैं *।

सम्भव है, लोई उनकी स्त्री हो, पीछे सन्त-स्वभाव से उन्होंने उसे शिष्या बना लिया हो। उन्होंने अपने गार्हस्थ जीवन के विषय में भी लिखा है:—

नारी ता हम भी करी, पाया नहीं विचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

कहते हैं, लोई से इन्हें दो सन्तान थी। एक पुत्र था कमाल, और दूसरी पुत्री थी कमाली। जिस समय ये अपने उपदेशों से प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे थे, उस समय सिकंदर लोदी तख़्त पर बैठा था (१५४६ विक्रमी)। उसने कबीर के अलौकिक कृत्यों की कहानी सुनी। उसने कबीर को बुलाया और जब कबीर को स्वयं अपने को ईश्वर कहते पाया तो क्रोध में आकर उन्हें आग में फेंका, पर वे

---

* कहत कबीर सुनहु रे लोई,
हम तुम बिनसि रहैगा सोई।

साफ़ बच गये, तलवार से काटना चाहा, पर तलवार उनका शरीर बिना काटे ही उनके भीतर से निकल गई। तोप से मारना चाहा, पर तोप में जल भर गया। हाथी से चिराना चाहा, पर हाथी डर कर भाग गया।

ऐसे अलौकिक कृत्यों में कहाँ तक सत्यता है, यह संभवतः कोई विश्वास न करे पर महात्मा या संतों के साथ ऐसी कथाओं का जोड़ना आश्चर्य-जनक नहीं है।

मृत्यु के समय कबीर काशी से मगहर चले आये थे। उन्होंने लिखा है:—

सकल जनम शिवपुरी गँवाया।
मरति बार मगहर उठि धाया॥

यह विश्वास है कि काशी में मरने से मोक्ष मिलती है मगहर में मरने से नर्क। पर कबीर ने कहा:—

जौ काशी तन तजै कबीरा।
तौ रामहि कौन निहोरा॥

वे तो यह चाहते थे कि यदि मैं सच्चा भक्त हूँ तो चाहे काशी में मरूँ चाहे मगहर मे, मुझे मुक्ति मिलनी चाहिये। यही विचार कर वे मगहर चले गये। उनके मरने के समय हिन्दू मुसलमानों में उनके शव के लिये झगड़ा उठा। हिन्दू दाह-कर्म करना चाहते थे और मुसलमान गाड़ना। आकाश-वाणी हुई कि कफ़न उठाओ। कफ़न उठाने पर शव के स्थान पर फूल-राशि दिखलाई पड़ी, जिसे हिन्दू मुसलमानों ने सरलता से अर्ध भागों में विभाजित कर लिया। हिन्दू और मुसलमान दोनों सन्तुष्ट हो गये।

कविता की भाँति कबीर का जीवन भी रहस्य से परिपूर्ण है।

कबीर ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों का जो स्वरूप निश्चित किया था, प्रायः वही आगे चल कर संत मत के रूप में पल्लवित हुआ। अनेक साधु-संतों ने स्वतन्त्र रूप से अपना मत प्रतिपादित किया, पर उनका आदि भाव कबीर के तात्विक सिद्धान्तों से प्रादुर्भूत हुआ था। कबीर का ईश्वर एक था।* उसका रूप नहीं था, आकार नहीं था। निराकार की भावना का ही प्राधान्य था। उसका कारण था। तत्कालीन भारत का वायुमण्डल मुसलमानों की क्रूर प्रवृत्ति से इतना दूषित हो गया था कि हिन्दुओं को मूर्ति-पूजा अथवा साकार रूप से भगवान की उपासना करते हुए भय मालूम होता था। अथवा हिन्दुओं की भावना अब साकार भगवान की ओर से विमुख-सी हो गई थी; क्योंकि हिन्दुओं ने मुसलमानों के अत्याचार से पीड़ित हो भगवान को न जाने कितनी बार पुकारा, पर भगवान ने प्रार्थना न सुनी। न तो वे गरुड़-सहित ही आए और न गरुड़ को छोड़ कर ही। ऐसी स्थिति में यदि हिन्दुओं का प्रेम साकार भगवान से कुछ विमुख-सा हो गया हो तो आश्चर्य ही क्या? ऐसे ही अवसर पर कबीर ने उत्पन्न होकर अपने निराकार भाव का प्रचार किया। वायु मण्डल तो अनुकूल था ही। एक ही लहर में कबीर ने अपनी बानी को उत्तरीय भारत में लहराते हुए पाया।

---

* मेरा साहिब एक है दूजा कहा न जाय।
साहिब दूजा जो कहूँ तो साहब खरा रिसाय॥

कुछ तो मुसलमान सूफ़ियों और राजाओं का असर और कुछ तत्कालीन वायु मण्डल का प्रवाह, दोनों ही ने कबीर के हृदय मे निराकार भावना की सृष्टि कर दी; पर कबीर भक्त थे, इस-लिये यह निराकार भावना बहुत कुछ परिष्कृत हो गई। उन्होंने अपनी उपासना का लक्ष्य तो साकार और निराकार दोनों के परे माना है†। इतना सब होने पर भी उन्होंने अपने ईश्वर को उन्हीं नामों से पुकारा है, जिन नामों से साकार उपासनावाले अपने आराध्य देव को पुकारते हैं। उनके पास भी राम, गोविन्द, हरि आदि नाम हैं; पर एक बात ध्यान में रखने योग्य है। निराकार भगवान से सम्बन्ध जोड़ने में उपासना ही प्रधान साधन है। इसमें प्रेम के स्थान में श्रद्धा और भय अधिक रहता है। यम नियम की बड़ी कठोर साधना है; पर कबीर में भक्ति का विशेष स्थान है, उपासना का कम। वे अपने ईश्वर से प्रेम अधिक करते है। वे अपने ईश्वर के लिये उसकी पतिव्रता स्त्री बन कर संसार को एक लम्बी विरह की रात्रि समझते हैं। उनका प्रेम "छिनहिं चढ़ै छिन उतरै" नही वे "अघट प्रेम पिंजर बसै" के पोषक हैं। उसी प्रेम से उन्होंने कहा था—आ मेरे देव, मेरी आँखों में आ जा, तुझे अपनी आँखों में बन्द कर लूँ। न मैं किसी और को देखूँगा और न तुझे किसी और को देखने ही दूँगा।‡

† निर्गुण की सेवा करो, सर्गुण को धरो ध्यान।
निर्गुण सर्गुण से परे, तहाँ हमारो ध्यान॥

‡ नैना अन्तर आव तूँ, नैन झाँप तोहि लेवँ।
ना मै देखों और को न तोहि देखन देवँ॥ —कबीर

ऐसी स्थिति में निराकार भावना का रूप स्पष्टता पाकर कुछ कुछ साकार का आभास देने लगता है। निराकार तभी तक शुद्ध रह सकता है, जब तक कि उसमें उपासना का भाव अविच्छिन्न रूप से वर्तमान रहता है। उसमें श्रद्धा और भय की भयानक सूखी नियंत्रण करनेवाली शक्तियाँ छिपी रहती हैं। जब उसमें भक्ति की कोमल भावना आ जाती है, प्रेम की प्रबल प्रवृत्ति समुद्र की भाँति विस्तृत रूप रख कर उठ खड़ी होती है तो निराकार का भाव बहुत कुछ विकृत हो जाता है। उस भाव में व्यक्तित्व का आभास ज्ञात होने लगता है। ईश्वर को हृदय फाड़ कर दिखा देने की इच्छा होती है। उसमें अपनापन आ जाता है। वह ईश्वर इस प्रेम की प्रतिमूर्ति ही बन कर सामने आ जाता है। ऐसी स्थिति में निराकार ईश्वर अपने को केवल विश्व का नियंता न रख कर भक्तों के सुख दुख में समान भाग लेनेवाला दृष्टिगोचर होने लगता है। इस भावना का प्रचार इस संत मत में बड़े वेग से हुआ। उसका कारण केवल यही था कि कबीर ने इसी भाव का अवलम्ब लिया था। वे निराकार ईश्वर की उपासना न कर सके। उन्होंने अपने तन मन से उसकी भक्ति की। उसके लिये भक्ति ही मुक्ति की नसेनी थी।† कबीर ने यही भूल की थी, जिस भूल का परिणाम संत मत में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हुआ। यदि उन्हें निराकार भावना से ईश्वर के प्रति

---

† भक्ति नसैनी मुक्ति की, संत चढ़े सब धाय।
जिन जिन मन आलस किया, जनम जनम पछिताय॥

अपना सम्बन्ध प्रकट करना था तो भक्ति और प्रेम से न करते। यदि वे भक्ति और प्रेम को नही छोड़ सकते थे तो उन्हें भगवान की साकार भावना से अपने विचारों का प्रचार करना था। न तो वे निराकार की ठीक उपासना कर सके और न साकार की पूरी भक्ति ही। इस मिश्रण ने यद्यपि उनके विचारों को प्रचार पाने का अवसर न दिया; पर ईश्वर-भावना का रूप बहुत अस्पष्ट रह गया। न हम उसे निराकार ऐकेश्वर की उपासना ही कह सकते हैं और न साकार ईश्वर की भक्ति ही। इसका एक कारण हो सकता है।

कबीर बड़े ऊँचे रहस्यवादी थे। उन पर मुसलमानी संस्कारों का प्रभाव भी पड़ा था और इसलिये कि वे जुलाहे के घर मे पोषित हुए थे, उनका मिलाप भी अनेक सूफ़ियों से हुआ था। उन्होंने सूफ़ी संतों के विषय मे अपने बीजक की ४८ वीं रमैनी में भी लिखा है।* ऐसी स्थिति में उन्होंने 'अनलहक़' का अवश्य अनुभव किया था। इस सूफ़ीमत में "इश्क़ हक़ीक़ी" का बहुत प्रधान स्थान है। बिना प्रेम के ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक कि भक्त के मन में प्रेम का विचार न होगा तब तक वह ईश्वर में मिलने के लिये किस प्रकार अग्रसर होगा? रहस्यवाद तो आत्मा ही की एक प्रवृत्ति है, जिसमें वह प्रेम के वशीभूत होकर अपनी

---

* मानकपूर कबीर बसेरा, मुहत सुन शेख़ तकी केरा।
ऊजो सुनो जौनपुर धामा, झूँसी सुनी पीर के नामा।
इक्कीस पीर लखे तेहि ठामा, खुतवा पढ़े पैगम्बर नामा।

सारी भावनाओं को अनुराग में रंग कर ईश्वर से मिलने के लिये अग्रसर होती है और अन्त में ईश्वर से मिल जाती है। अतएव कबीर रहस्यवादी होने के कारण प्रेम की प्रधानता को अवश्य मानते। दूसरी बात उनके रामानन्द गुरु से दीक्षित होना है। इन दोनों परिस्थितियों ने अनेक हृदय में प्रेम का अंकुर जमा दिया था। वे मुसलमान के घर में थे, इसलिये बहुत सम्भव है कि ईश्वर की भावना बचपन ही से उनके मन में निराकार रूप में हुई हो। इन सब बातों ने कबीर के मन में इन्हीं दो भावनाओं को उत्पन्न किया।

१—निराकार भाव से ईश्वर की उपासना।

२—सूफ़ीमत के प्रभाव से अथवा रामानन्द के सत्संग से प्रेम का अलौकिक स्वरूप।

इन दोनों भावों के मिश्रण ही ने कबीर के आध्यात्मिक भावों का स्वरूप निर्धारित किया। यही कारण था कि वे निराकार ईश्वर की भावना प्रेम और भक्ति के साथ कर सके। इस अस्पष्ट भावना का स्वरूप कबीर ने यद्यपि कहीं २ सफलता के साथ खींचा है तथापि उनके परिवर्ती संत कवियों ने तो इस मत का इतना विकृत रूप खड़ा किया है कि उससे कुछ सिद्धान्त ही नहीं निकलता। एक ओर तो प्रेम और भक्ति इतने तेज़ी से उमड़ रहे हैं कि किसी के चरणों में अपना सर्वस्व न्योछावर करने की भावना जागृत हो उठी है और दूसरी ओर हवा में निराकार का रूप है। उस शून्याकाश से प्रेम भावना को कितनी ठेस लगती है! मैं तो सम-

कता हूँ कि प्रेम और भक्ति के आवेश में निराकार रूप का निरूपण हो ही नहीं सकता। हमारे संत कवियों ने इसी निराकार के अवि-गत रूप में अपने प्रेम की धारा वहाई है। ऊसर में नदी कितनी दूर तक जा सकती है? निराकार ईश्वर का विरद ही क्या—

मारग जोवै विरहिनी, चितवै पिय की ओर।
सुंदर पियरे जक नहीं, कल न परत निस भोर॥

इस दोहे से व्यक्ति का वोध होता है, जिसका पता निराकार भावना में लग ही नहीं सकता। संत मत की ईश्वरीय भावना बहुत अस्पष्ट और असंगत है।

कवीर ने इसी भावना के वशीभूत होकर ईश्वर के भजन गाये है। यद्यपि उनकी कविता में काव्य-सौन्दर्य नहीं, पर उसमें ईश्व-रीय भावना की इतनी तीव्र शक्ति प्रवाहित होती है, जिसके सामने संसार की किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहने पाता। कवीर की ईश्वरीय भावना यद्यपि कुछ अस्पष्ट है, पर उसमें जीवन को जागृत करने की बड़ी शक्ति है।

मलार

हरि गुन सुमरि रे प्राणी ।
जतन करत पतन ह्वै जैहै भावै जांणम जांणी ॥
छीलर नीर रहै धूं कैसै को सुपिनै सच पावै ।
सूकित पान परत तरवर तें उलटि न तरिवरि आवै ॥
जल थल जीव डहके इन माया कोई जनख उबर न पावै ।
राम अधार कहत है जुगि जुगि दास कबीरा गावै ॥

सारंग

यहु ठग ठगत सकल जग डोलै ।
गवन करै तब मुसह न बोलै ॥
तूं मेरौ पुरिषा हौ तेरी नारी तुम्ह चलतैं पाथर थै भारी ।
बालपना के मीत हमारै हमहि छांड़ि कत चलै हो निनारै ॥
हमसूं प्रीति न कर री बौरी तुम्ह से केतै लागे ढौरी ।
हम काहू संगि गये न आये तुम्ह से गढ हम बहुत बसाये ॥
माटी की देही पवन सरीरा ता ठग सूं जन डरै कबीरा ।

केदार

वै दिन कब आवैंगे माइ
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिवो अंग लगाइ।
हौ जानूं जे हिलमिल खेलूं तन मन प्रांन समाइ॥
या कांमनां करौ पनपूरन, समरथ हौ राम राइ।
मांहि उदासी माधौ चाहै, चितवत रैनि विहाइ।
सेज हमारी स्यंघ भई है जब सोऊँ तब खाइ॥
यहु अरदास दास की सुनिये तन की तपति बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जे सांई मिलि करि मंगल गाइ॥

टोड़ी

तूं पाक परमानन्दे ।
पीर पैगंबर पनह तुम्हारी, मै ग़रीब क्या गंदे ॥
तुम्ह दरिया सब ही दिल भीतर परमानन्द पियारे ।
नैक नजरि हम ऊपरि नाहीं क्या कमबख़्त हमारे ॥
हिकमति करै हलाल विचारै आप कहाँवै मोटे ।
चाकरी चोर निवालै हाजिर, सांई सेती खोटे ।
दाइम दूवा करद बजावैं मैं क्या करूँ भिखारी ।
कहै क़बीर मैं बंदा तेरा खालिक पनह तुम्हारी ॥

भैरव

अब हरि हूँ अपनो करि लीनौं,
प्रेम भगति मेरो मन भीनौं ।
जरै सरीर अंग नहि मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं ।
च्यंतामणि क्यूं पाइये ठोली, मन दे रांम लियौ निरमोली ॥
ब्रह्मा खोजत जनम गवायौ, सोई रांम घट भीतर पायौ ।
कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ रांम उपज्यौ विसवासा ।

बिलावल

माधौ सो न मिलै जासौ मिलि रहिए ।

ता कारन बर बहु दुख सहिए

छत्रधार देखत ढहि जाई, अधिक गरब थे खाक मिलाई ॥

अगम अगोचर लखी न जाई, जहाँ का सहज फिर तहाँ समाई ।

कहै कबीर झूठै अभिमान, सो हम सो तुम्ह एक समान ॥

ललित

रांम ऐसो ही जांनि जपौ नरहरी,

माधव मदसूदन बनवारी ।

अनदिन ग्यांन कथै घरियार धूंवा धौलह रहै संसार ।
जैसे नदी नाव करि संग; ऐसैहि मात पिता सुत अंग ॥
सबहि नल दुल मलफ लकीर जल बुदबुदा ऐसो आहि सरीर ।
जिभ्या रांम नांम अभ्यास कहै कबीर तजि गरभवास ॥

बसंत

सो जोगी जाके सहज भाइ, अकल प्रीति की भीख खाइ ।
सबद अनाहद सींगी नाद काम क्रोध विषिया न बाद ।।
मन मुद्रा जाकै गुर को ग्यांन त्रिकुट कोट में धरत ध्यान ।
मनहीं करन कौ करै सनान गुर को सबद लै लैधरे धियांन ।।
काया कासी खोजै बास तहाँ जोंति सरुप भयो परकास ।
ग्यान मेखली सहज भाइ बंक नालि को रसिखाइ ।।
जोग मूल कौ देइ बंद कहि कबीर थिर होइ कंद ।

धनाश्री

जपि जपि रे जियरा गोव्यंदों हितचित परमानन्दो रे ।
विरही जन कौ बाल हौ सब सुख आनन्द कंदौ रे ॥
धन धन झीखत धन गयौ सो धन मिल्यो न आय रे ।
ज्यूं बन फूली मालती जन्म अविरथा जाय रे ॥
प्राणीं प्रीति न कीजिये इहि झूठे संसारी रे ।
धूँवा केरा धौलहर जात न लागत बारी रे ॥
माटी केरा पूतला काहे गरब कराये रे ।
दिवस चारि को पेखनो फिर माटी मिलि जाये रे ॥
कामी रांम न भावई भावै विषै विकारो रे ।
लोह नाव पाहन भरी बूड़त नाहीं बारौ रे ॥
ना मन मूआ न मरि सक्या ना हरि भज उतरया पारौ रे ।
कबीरा कंचन गहि रह्यो काच गहै संसारो रे ॥



विद ।पात

विद्यापति ब्रह्मदास बहोरन चतुर बिहारी ।
गोविन्द गंगा रामलाल वरसानियां मंगलकारी ॥
प्रिय दयाल परसराम भक्तभाई याटी को ।
नन्द सुवन की काप कवित्त केसौ को नीको ॥
आश करन पूरन नृपति भीषम जन दयाल गुननहिन पार ।
हरि सुजस प्रचुर कर जगत मैं ये कविजन अतिसय उदार ॥

—नाभादास (भक्तिमाल)

विद्यापति

विद्यापति वंगाली कवि नहीं थे। वे मिथिला के निवासी थे और मैथिली में उन्होंने अपनी कविता लिखी। लगभग चालीस वर्ष पहिले वंगाली विद्यापति को अपना कवि समझते थे, पर जब से उनके जीवन की घटनाओं की जाँच-पड़ताल बाबू राजकृष्ण मुकर्जी और डाक्टर ग्रियर्सन ने की है तब से वंगाली अपने अधिकार को अव्यवस्थित पाते हैं। हिन्दी-भाषियों ने फिर अपनी खोई सम्पत्ति पा ली है।

विद्यापति एक विद्वान् वंश के वंशज थे। उनके पिता गणपति ठाकुर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक गंगा-भक्ति-तरंगिनी अपने मृत संरक्षक मिथिला के महाराजा गणेश्वर की स्मृति में समर्पित की थी। गणपति के पिता जयदत्त संस्कृत विद्वत्ता के लिये ही प्रसिद्ध नहीं थे वरन् एक बड़े सन्त थे। उन्हें इसी कारण योगेश्वर की उपाधि मिली थी। जयदत्त के पिता वीरेश्वर थे, जिन्होंने मैथिल ब्राह्मणों की दिनचर्या के लिये नियम संबद्ध किये थे।

विद्यापति विसपी के रहनेवाले थे। यह दरभंगा ज़िले में है। यह गाँव विद्यापति ने राजा शिवसिंह से उपहार-स्वरूप पाया था। विद्यापति ने शिवसिंह, लखिमा देवी, विश्वास देवी, नरसिंह-देवी और मिथिला के कई राजाओं की संरक्षिता पाई थी। ताम्र-

पत्र द्वारा विसपी गाँव का दान शिवसिंह ने अभिनव जयदेव की उपाधि-सहित सन् १४०० ई० में विद्यापति को दिया था।

कई विद्वान् इस ताम्रपत्र को जाली समझते हैं। इस लेख की अक्षराकृति उस समय के अक्षरों से नहीं मिलती, जब कि यह दान दिया गया होगा। इस प्रमाण के आधार पर ताम्र-पत्र अप्रमाणिक सिद्ध किया जाता है। जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि विसपी गाँव विद्यापति को शिवसिंह ने दान में दिया था। कवि स्वयं इस दान को अपने एक पद्य में लिखता है। अब भी विद्यापति की सन्तति बहुत दिनों से इस गाँव पर अपना अधिकार जमाये है। उस स्थान पर प्रचलित जन-श्रुति भी इस दान का समर्थन करती है। ताम्रपत्र की अप्रमाणिकता इस प्रकार प्रमाणिकता में बदली जा सकती है। ताम्रपत्र कुटुम्ब के सबसे बड़े वयोवृद्ध के पास रक्खा होगा। अन्य सम्बन्धी गणों ने उसकी नक़ल रक्खी होगी। यदि वह पत्र गुम गया होगा तो फिर वंशजों को उन नक़लों की नक़ल करनी पड़ी होगी, जिससे वे राजा टोडरमल को दिखला सकें। यदि यह अनुमान ठीक है तो फिर वर्णों का आधुनिक रूप होना युक्ति-संगत हो सकता है।

मिथिला का राज-विवरण-पत्र या राजा पंजी शिवसिंह का सिंहासनासीन होना सन् १४४६ ई० में मानता है। इसमें भी एक आपत्ति हो सकती है क्योंकि विद्यापति ने अपने एक पद में राजा शिवसिंह का राज्याभिषेक सन् १४०० ई० में माना है।

इन तारीख़ों पर भिन्न भिन्न मत है; पर अभी हाल ही में दूसरा प्रमाण मिला है। वह पूर्ण विश्वसनीय भी है। वह विद्यापति की तिथि पर अच्छा प्रकाश डालता है। काव्य-प्रकाश की सटीक नक़ल की हस्तलिपि अभी हाल ही मे मिली है। उससे ज्ञात होता है कि वह किसी देवशर्मा ने विद्यापति की आज्ञा से लिखी थी। उसका सन् १३९८ ई० है। विद्यापति द्वारा लिखित भागवत की जो हस्तलिपि मिलती है, उसके अंतिम पृष्ठ पर भी एक तिथि मिलती है, जो १४०० के लगभग है। बङ्गाल की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा नियुक्त पंडितो ने जो स्थिर किया है, अभी उसमें अन्तर है, पर अधिक नही।

इन प्रमाणों से हम मान सकते हैं कि विद्यापति १४ वीं शताब्दी के अन्त में पैदा हुए और वहुत दिनों तक जीते रहे। वे चण्डीदास के समकालीन थे।

विद्यापति के पदों का वंगाली में रूपान्तर वहुत अधिक पाया जाता है। यहाँ तक कि वंगाल में विद्यापति के जो पद्य प्रचलित हैं, वे कई अंशों में मैथिली में प्रचलित पद्यों से भिन्न है। उसका एक कारण है। विद्यापति का समय मिथिला विश्वविद्यालय के गौरव का समय था और उन दिनों मिथिला और बंगाल में भाव-परिवर्तन की अधिकता थी। अतएव वंगाल के राधाकृष्ण के गीत मिथिला में पहुँचे और उनका पाठ बिलकुल मैथिल हो गया। उदाहरण-स्वरूप गोविन्ददास के पद दिए जा सकते हैं। वही विद्यापति की कविता का हाल हुआ और उनका पाठ

भी बंगाली हो गया। कोई कोई पद तो केवल बंगला ही में पाये जाते हैं।

विद्यापति की कविता संगीत के स्वरों में गूँजती हुई राधा-कृष्ण के चरणों पर निछावर होती है। उनके पदों से एक प्रकार की मतवाली ध्वनि निकलती है। उन्होंने प्रेम के सम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारो को अन्तर्हित कर दिया है। उन्होंने शृंगार रस पर ऐसी लेखिनी उठाई है, जिससे राधाकृष्ण के जीवन का तत्व प्रेम के सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है।

हम पहिले विद्यापति की कविता की अन्तरात्मा पर विचार करना चाहते हैं। उनकी कविता गीतिकाव्य के तारों में गूँजती है। गीतिकाव्य का यह लक्षण तो लिखा ही जा चुका है कि उसमें व्यक्तिगत विचार भावोन्माद, आशा-निराशा की धारा अबाध रूप से बहती है। कवि के अंतर्जगत के सभी विचार व्यापार और उसके सूक्ष्म हृदयोद्गार सभी उस काव्य में संगीत के साथ व्यक्त रहते है। विद्यापति की कविता में यद्यपि हम अधिक व्यक्तिगत विचार नही पाते पर उसमें भावोन्माद की प्रचंड धारा वर्षा कालीन किसी नदी के वेग से किसी प्रकार भी कम नहीं है। वयःसन्धि, नखशिख, अभिसार, मान-विरह आदि में कवि की भावना इस प्रकार सम्बद्ध हो गई है मानो नायक नायिका के कार्य-व्यापार कवि की वासनामयी प्रवृत्ति के अनुसार हो रहे हैं। विचार इतने तीव्र हो गये हैं कि उनके सामने राधा और कृष्ण अपना सिर झुका कर उन्हीं विचारों के अनुसार कार्य करते हैं।

विद्यापति कौतुक वलिहारि।
सैसव से तनु छोड़ नहि पारि॥

हमें विद्यापति की कविता में शृंगार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है। भाव, आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव अनुभाव और संचारी भावों का दिग्दर्शन उनकी पदावलियों में सुन्दर रीति से मिल सकता है। उनके सामने विश्व के शृंगार में कुछ ही मूर्तियाँ हैं। स्थायी भाव रति तो पदावली में आदि से अन्त तक है ही। आलम्बन विभाव मे नायक कृष्ण और नायिका राधिका का मनोहर चित्र खींचा गया है। इनके बीच में हमें ईश्वरीय अनुभूति की भावना नहीं मिलती। एक ओर नवयुवक चंचल नायक है और दूसरी ओर यौवन और सौन्दर्य की सम्पत्ति लिये राधा।

कि आरे नव जौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ,
छओ अनुपम इक ठामा......

उद्दीपन विभाव में वसन्तादि चित्रित किये गये है।

वाल वसन्त तरुन भये धाओल
वढ़ए सकल संसारा,
दखिन पवन घन अग उगारए
किसलय कुसुम परागे
सुललित हार मजरि घन कज्जल
अखितौं अंजन लागे

नव बसन्त रितु अगुसर जौवति
विद्यापति कवि गावे
राजा सिवसिंघ रूप नरायन
सकल कला मन भावे

और अनुभाव इस प्रकार है :—

सुन्दरि चललिहु पहु घरना ।
चहु दिस सखि सबकर धरना ॥
जाइतहु हार टुटिए गेल ना ।
भूखन बसन मलिन भेल ना ॥
रोए रोए काजर दहाए देल ना ।
अदकंहि सिंदुर मिटाए देलना ॥
जाइतिहु लागु परम डर ना ।
जइसे ससि काँप राहु डर ना ॥

विद्यापति ने राधा कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रङ्ग बहुत ही प्रखर है । आराध्य देव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिये, वह उसमें लेश मात्र भी नहीं है । सख्यभाव से जो उपासना की गई है, उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली एक मुग्धा नायिका की भाँति । राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है । आनन्द ही उसका उद्देश है और सौन्दर्य ही उसका कार्य कलाप । यौवन ही से जीवन का विकास है, मानव जीवन की अन्य

किसी दशा में नहीं। अङ्गरेज़ी कवि बाइरन के समान विद्यापति का भी यही सिद्धान्त है कि :—

यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।*

विद्यापति ने जीवन से शृङ्गार की प्रधानता मानी है। जीवन मानो दो धाराओं में बह गया है। एक धारा का नाम है पुरुष और दूसरी का स्त्री। इन्हीं दोनो के मिलाप में जीवन का तत्व सन्निहित है; किन्तु जिस जीवन का रूप चित्रित किया है, उसमें वासना की प्रधानता है। राधा का शनैः शनैः विकास, उसकी वयः-सन्धि, दूती की शिक्षा, कृष्ण से मिलन, मान-विरह आदि उसी प्रकार लिखे गये हैं, जिस प्रकार किसी साधारण स्त्री का भौतिक प्रेम विवरण। कृष्ण भी एक कामी और विषय-वासना से ओतप्रोत छैल छबीले नायक की भाँति हमारी नज़रों के सामने आते हैं। कवि के इस वर्णन में हमें ज़रा भी ध्यान नहीं आता कि यही राधा कृष्ण हमारे आराध्य हैं। हम उनके कार्य कलापों का ढङ्ग वैसा ही देखते हैं जैसे कि संसार के किसी अन्य साधारण स्त्री पुरुष का। उसमे भक्ति-भाव की ज़रा भी सुगन्धि नहीं है। निम्न-लिखित अवतरण में पाठक देखें कि उसमे आराधना का स्वरूप है अथवा वासना का :—

मोर पिया सखि गेल दुरि देश।
जौबन दए गेल साल संनेस॥

---

* The days of our youth are the days of our glory.

मास असाढ़ उनत नव मेघ।
पिया बिसलेख रहओं निरथेघ॥
कौन पुरुष सखि कोन से देश।
करव मोय तहाँ जोगिनि भेस॥

इसे हम ईश्वरोन्मुख विरह मान सकते थे; यदि इस पद्य में जीवन का निर्देश न रहता। कुमारस्वामी ने विद्यापति के ऐसे ऐसे पदों को लेकर यह दिखलाना चाहा है कि विद्यापति की कविता ईश्वरोन्मुख है और उसमें रहस्यवाद की अनुपम छटा है पर विनय कुमार सरकार * ने इस सिद्धान्त को असत्य कर दिखलाया है। हम यह कह नहीं सकते कि श्रीकुमारस्वामी का मत सत्य है अथवा श्रीविनयकुमार सरकार का, पर यह हम अवश्य कह सकते हैं कि विद्यापति की कविता में भौतिक प्रेम की छाया स्पष्ट है। कृष्ण और राधा साधारण पुरुष-स्त्री हैं। राधा तो उस सरिता के समान है, जिसमें भावनाएँ तरंगों का रूप लेकर उठा करती हैं। राधा स्त्री है, केवल स्त्री है और उसका अस्तित्व भौतिक संसार ही में है। उसका वाह्य रूप जितना अधिक आकर्षक है उतना आंतरिक नहीं। वाह्य सौन्दर्य ही उसका सब कुछ है, सौन्दर्य ही उसका स्वरूप है, मानो सुनहले स्वप्न मनुष्य के रूप में अवतरित हुए हैं। जहाँ उसके पैर पड़ते हैं, वहाँ कमल खिल उठते हैं, वह प्रसन्नता से पूर्ण है, उसकी चितवन में कामदेव

---

* Love in Hindu Literature Page, 39.

के बाण हैं, पाँच नहीं वरन् सहस्र, सभी दिशाओं में छूटे हुए सहस्र बाण।

विद्यापति ने अन्तर्जगत का उतना हृदयग्राही वर्णन नहीं किया, जितना कि वहिर्जगत का। उन्हें अन्तर्जगत की सूक्ष्म वृत्तियाँ बहुत कम सूझी हैं। उन्हें उनसे मतलब ही क्या? उन्हें तो सद्यः स्नाता अथवा वयः सन्धि के चंचल और कामोद्दीपक भावों की लड़ियाँ गूथिनी थी।

कामिनि करए सनाने।
हेरतहि हृदय हनए पंच वाने॥

विद्यापति का संसार ही दूसरा है। वहाँ सदैव कोकिलाएँ ही कूजन करती हैं। फूल खिला करते हैं; पर उनमें काँटे नहीं होते। राधा रात भर जागा करती है। उसके नेत्रों ही में रात समा जाती है। शरीर में सौन्दर्य के सिवाय कुछ भी नही है। पथ है, उसमें भी गुलाव है, शैया है उसमें भी गुलाव है, शरीर है उसमें भी गुलाव, सारा संसार ही गुलावमय है। उनके संसार में फूल फूलते हैं, काँटों का अस्तित्व ही नहीं है। यौवन-शरीर के आनन्द ही उनके आनन्द हैं।

सौन्दर्य की वस्तु ही अनन्त आनन्ददायिनी है। विद्यापति के इस वाह्य संसार में भगवद्भजन कहाँ, इस वयःसन्धि में ईश्वर की सन्धि कहाँ, सद्यः स्नाता मे ईश्वर से नाता कहाँ और अभिसार में भक्ति का सार कहाँ! उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं। उससे हृदय मतवाला हो

सकता है, शान्त नहीं। हम उन भावों में आत्म विस्मृत हो सकते है, पर हममें जागृति नहीं आ सकती।

विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है। वे एक कल्पित राज्य में विहार करते है। वे अपनी कल्पना के सौन्दर्य में ऐसे डूब गये हैं कि किसी दूसरी ओर उनकी दृष्टि भी नहीं जाती। यहाँ कवि की कला-मात्र है उसका भक्ति-भाव-मय व्यक्तित्व नहीं। विद्यापति की राधा प्रेम करती है इसलिये कि वह स्त्री है और स्त्रियाँ प्रेम करना जानती हैं। राधा प्रेम करती है इसलिये कि कृष्ण सुन्दर हैं और सुन्दरता से प्रेम होना स्वाभाविक है, पर ऐसे प्रेम में एक दोष आ गया है और वह यह कि इस प्रेम में सदाचार की मात्रा कम है विद्यापति की राधा सदाचार करना जानती ही नहीं। कवि भक्ति-भावना से उत्तेजित होकर नहीं वरन् मौज से आकर कहता है :—

अधर मंगइते अओध कर माथ।
सहए न पार पयोधर हाथ॥
बिघटल नीबी कर धर जाँति।
अंकुरल मदन धरए कत भाँति॥
. ...

इसका एक कारण है, विद्यापति राज दरबार के बीच कविता पढ़ा करते थे। उन्हें राजसभा और अपनी कला पर ही अधिक ध्यान था उन्हें तो :—

राजा सिवसिंघ रूप नरायन लखिमा देइ रमाने

को ओर विशेष आकर्षण था। इसीलिये कदाचित् उन्हें अपने संरक्षकों के मनोविनोद का ही अधिक ध्यान था। रूपक उपमा उत्प्रेक्षादि अलंकारों और भाव विभाव अनुभावादि रसों पर उन्होंने अपनी कविता की नींव खड़ी की। यही कारण है कि उन्होंने अपने कला नैपुण्य प्रदर्शन के लिये साहित्य शास्त्र का मन्थन तो कर डाला, पर जीवन का रहस्य जानने के लिये मनुष्य-समाज के अन्तर्रहस्यों की पर्यालोचना नहीं की।

अन्त में हम यहाँ कह सकते हैं कि विद्यापति की कविता में स्त्रीत्व और पुरुषत्व की भावना जिस प्रबल वेग से बहती है, वैसी हम हिन्दी-साहित्य के किसी भी स्थल में नहीं पा सकते।



सैसव जौबन दरसत भेल।
दुहु दल बले दन्द परि गेल॥
कबहुँ बाँधय कच कबहुँ बिथारि।
कबहुँ झाँपय अँग कबहुँ उघारि॥
अति थिर नयन अथिर कछु भेल।
उरज उदय थल लालिम देल॥
चंचल चरन, चित चंचल भान।
जागल मनसिज मुदित नयान॥
विद्यापति कह सुनु बर कान।
धैरज धरह मिलायब आन॥

पीन पयोधर दूबरि गता ।
मेरु उपजल कनक लता ॥

ए कान्हु ए कान्हु तोरि दोहाई ।
अति अपूरुब देखलि साई ॥

मुख मनोहर अधर रंगे ।
फूललि मधुरी कमल संगे ॥

लोचन जुगल भृंग अकारे ।
मधुक मातल उड़ए न पारे ॥

भउँहक कथा पूछह जनू ।
मदन जोड़ल काजर धनू ॥

भन विद्यापति इति बचने ।
एत सुनि कान्हु कएल गमने ॥

कनक लता अरविन्दा ।
दमना माँझ उगल जनि चन्दा ॥
केहु कहे सैवल छपला ।
केहु बोले नहि नहि मेघे झपला ॥
केहु कहे भमए भमरा ।
केहु बोले नहि नहि चरए चकोरा ॥
संसय परल सब देखी ।
केहु बोलए ताहि जुगुति बिसेखी ॥
भनइ विद्यापति गावे ।
बड़ पुन गुनमति पुनमत पावे ॥

कामिनि करए सनाने ।
हेरितहि हृदय हनए पँचबाने ॥
चिकुर गरए जलधारा ।
जनि मुख ससि डर रोअए अंधारा ॥
कुच जुग चारु चकेवा ।
निअ कुल मिलिअ आनि कोन देवा ॥
ते संका भुज पासे ।
बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे ॥
तितल बसन तनु लागू ।
मुनिहुक मानस मनमथ जागू ॥
भनइ विद्यापति गावे ।
गुनमति धनि पुनमत जन पावे ॥

आजु हम पेखल कालिन्दी कूले ।
तुअ बिन माधव विलुठए धूले ॥

कत सत रमनि मनहि नहि आने ।
किए विष दाह समय जल दाने ॥

मदन भुजंगम दंसल कान ।
बिनहि अमिय रस कि करब आन ॥

कुलबिति धरम काँच समनूल ।
मदन दलाल मेल अनुकूल ॥

आनल बेचि नीलमणि हार ।
से तुहु पहिरवि करि अभिसार ॥

नील निचोल झांपवि निज देह ।
जनि घन भीतर दामिनि रेह ॥

चौदिक चतुर सखी चलु संग ।
आजु निकुंज करह रस-रंग ॥

नाव डोलाव अहीरे ।
जिवइत न पाओव तीरे ॥
खर नीरे ले ।
खेवा न ले अए मोले ।
हँसि हँसि की दहु बोले ॥
जिव डोले लो ।
किए बिके ऐलिहु आपे ।
बेढ़लिहु मोहिं बड़ सापे ॥
मोरे पापे लो ।
करितहुं पर उपहासे ।
पहिलिहुँ ताहि विधि फाँसे ॥
नहि आसे लो ।
न बूझसि अबूझ गोआरी ।
भजि रहु देव मुरारी ॥
नहि गारी लो ।
कवि विद्यापति भाने ।
नृप सिवसिंघ रस जाने ॥
नव कान्हे लो ।

राधा को शिक्षा

प्रथमहि अलक तिलक लेव साजि।
चंचल लोचन काजर आँजि ॥
जाएब बसन आंग लेब गोए।
दूरहि रहब तें अरथित होए ॥
मोरि बोलब सखि रहब लजाए।
कुटिल नयन देव मदन जगाए ॥
झापब कुच दरसाओब आध।
खन खन सुदृढ़ करब निवि बाँध ॥
मान करए किछु दरसब भाव।
रस राखब ते पुनु पुनु आव ॥
हम कि सिखओबि अओ रस रंग।
अपनहि गुरु भये कहत अनंग ॥
भनइ विद्यापति इ रस गाव।
नागरि कामिनि भाव बुझाव ॥

कृष्ण को शिक्षा

हमे दरसइत कतहुँ वेस करु
हमे हेरइत तनु झाँप।
सुरत सिगारि आज धनि आओलि
परसइत थर थर काँप॥
सुनि हे कान्हु कहिए अवधारि।
सकल काज हम बुझल बुझाएल।
न बुझल अंतर नारि॥
अभिनव काम-नाम पुनु सुनइत।
रोखत गुन दरसाइ॥
अरि सम गजए मन-पुनु रंजए
अपन मनोरथ साइ।
अन्तर जीव अधिक करि मानए॥
बाहर न गन तरासे
कह कवि सेखर सहज विषय रत।
विदगधि केलि विलासे॥

सुनु रसिआ

अब न बजाहु बिपिन बसिआ ।
बार बार चरनारबिन्द गहि ।
सदा रहब बनि दसिआ ॥
कि छलहुँ कि होएब से के जाने ।
वृथा होएल कुल हसिआ ॥
अनुभव ऐसन मदन-भुजंगन ।
हृदय मोर गेल डसिआ ॥
नंद नदन तुअ सरन न त्यागब ।
बलु जग होय दुरजसिआ ॥
विद्यापति कहि सुनु बनितामनि ।
तोर मुख जीतल ससिआ ॥
धन्य धन्य तोर भाग गोआरिनि ।
हरि भजु हृदय हुलसिआ ॥

सरस बसंत समय भल पाओलि,
दछिन पवन बहु धीरे।
सपनहुं रूप बचन एक भाखिए,
मुख सों दूरि करु चीरे॥
तोहर बदन सम चान होअथि नहि,
जइओ जतन विहि देला।
कए बेरि काटि बनाओल नव कय,
तइओ तुलित नहि भेला॥
लोचन तूल कमल नहि भए सक,
से जग के नहि जाने।
से फेरि जाए लुकाएल जल-भए,
पंकज निज अपमाने॥
भनहि विद्यापति सुनु वर जौबति,
ई सम लछमी समाने।
राजा सिवसिंघ रूप नरायन,
लखिमा देइ पति भाने॥

अभिसार

धनि धनि चलु अभिसार ।
सुभ दिन आजु राजपन मनमथ,
पाओव कि रीति विथार ।
गुरुजन नयन अंध करि आओल,
बाँधव तिमिर विसेख ।
तुअ उर फुरत बाम कुच लोचन,
बहु मंगल करि लेख ।
कुलवति धरम करम भय अब सब,
गुरु मदिर चलु राखि ।
प्रियतम सग रंग करु चिर दिन,
फलत मनोरथ साखि ।
नीरद बिजुरि बिजुरि सयँ नीरद,
किंकिनि गरजन जान ।
हरखए बरखए फुल सब साखी,
सिखि कुल दुहु गुन गान ।

चरन नूपुर उपर सारी।
मुखर मेखल कर निवारी॥
अम्बर सामर देह झपाई।
चलहु तिमिर पथ समाई॥
समुद कुसुम रभस रसी।
आवदि उगत कुगत ससी॥
आएल चाहिअ सुमुखि तोरा।
पिसुन लोचन भम चकोरा॥
अलक तिलक न कर राधे।
अंग विलेपन करह बाधे॥
कुसुमित कानन कालिन्दि तीर।
तहाँ चलि आओल गोकुल वीर॥
तय अनुरागिनि ओ अनुरागी।
दूषन लागत भूषन लागी॥
भन विद्यापति सरस कवि।
नृपति कुल सरोरुह रवि॥

बिरह

सरसिज बिनुसर, सर बिनु सरसिज ।
की सरसिज बिनु सूरे ॥
जौवन बिनु तन तन बिनु जौवन ।
की जौवन पिय सूरे ।
सखि हे मोर बड़ दैव विरोधी ।
मदन वेदन बड़ पिया मोर बोलछड़ ।
अबहु दे दे परबोधी ॥
चौदिस भमर भम कुसुम कुसुम रम ।
नीरसि मांजरि पीवइ ॥
मंद पवन चल पिक कुहु कुहु कह ।
सुनि बिरहिन कइसे जीवइ ॥
सिनेह अछल जत हम भेव न टूटत ।
बड़ बोल जत सब थीर ॥
अइसन के बोल दहु निज सिम तेजि कहु ।
उछल पयोनिधि नीर ॥

भनइ विद्यापति अरे रे कमल मुखि,
गुनगाहक पिया तोरा ॥
राजा सिवसिंघ रूप नरायन ।
सहजे एको नहि मोरा ॥